महायान

भदन्त शान्तिभिक्षु
उपाध्याय विश्वभारती-चीनभवन



विश्वभारती ग्रन्थालय
२ बङ्किमचाटुज्जे स्ट्रीट, कलकत्ता

प्रकाशक—श्रीपुलिनविहारी सेन
विश्वभारती, ६।३ द्वारकानाथ ठाकुर लेन

मूल्य ३)

मुद्राकर—प्रभातकुमार मुखोपाध्याय,
शान्तिनिकेतन प्रेस, शान्तिनिकेतन, बंगाल।

सूचोपत्र

भूमिका

प्रस्तावना — ।से १॥०

बौद्धधर्म का स्वाभाविक विकास — ।से ॥।०

बौद्धों के अलग अलग सम्प्रदाय और उनमें साहित्यरचना — ॥।से १॥

१ बौद्धधर्म में तीन यान — १—५८

क—साधारण सिद्धान्त (बोधिपाक्षिक धर्म) — १—१४

ख—तीन यानों की परस्पर विशेषताएं और उनका विकास — १४—२०

ग—सत्य और उनका विवेचन — २०—२२

घ—प्रतीत्यसमुत्पाद और सत्ता — २३—३०

१—पंच स्कन्ध — २३—२६

२—बारह अंग — २६—२८

३—सत्ता का स्वरूप — २९—३०

ङ—पारमिताएं और ब्रह्मविहार — ३०—४४

१—पारमिताएं — ३०—४२

२—ब्रह्मविहार — ४३—४४

च—बोधिसत्वों की विहार भूमियां — ४४—५०

१—बोधिसत्वों का गोत्र और बोधिचित्तोत्पाद — ४४—४७

२—विहारभूमियां — ४८—४९

३—बोधिसत्व की पहचान और बुद्धका स्वरूप — ४९—५०

छ—बोधिसत्वों की चर्या के मर्मस्थान — ५०—५८

२ महायानके धार्मिक विश्वास — ५९—९१

क—साधना के उच्चतम प्रतीक के रूप में बुद्ध का विकास — ५९—६९

१—बुद्ध का मानव रूप — ५९—६२

२—बुद्ध के जीवन में चमत्कार और पूर्वजन्म की कथाएं — ६२—६५

३—बुद्ध का मायामय आविर्भाव और तिरोभाव — ६६—६९

ख—बुद्ध के तीन काय ७०—७८

ग—बुद्धक्षेत्र, बुद्ध और बोधिसत्व ७८—८६

घ—भक्ति-पूजा, आराधना और सेवा ८७—९१

३ महायान दर्शन ९२—१२९

क—दार्शनिक विकास की परम्परा ९२—९८

ख—शून्यवाद ९८—११५

ग—विज्ञानवाद ११५—१२३

घ—बौद्धदर्शन का तार्किक आधार १२३—१२८

ङ—अव्याकृत १२८—१२९

४ उपसंहार १३०—१३९

(१) हिन्दी के भक्ति-साहित्य और महायान का सम्बन्ध १३०—१३६

(२) महायान का महत्त्व १३६—१३९

भूमिका

विश्वभारती के चीन-भवन के अध्यापक श्री भदन्त शान्तिभिक्षु जी की यह विद्वत्तापूर्ण पुस्तक हिन्दी-भवन की ओर से प्रकाशित करते हमें बड़ा हर्ष हो रहा है। महायान मत उत्तर भारत में बहुत प्रबल धर्ममत था और उसका प्रभाव परवर्ती धर्मसाधना और तत्सम्बन्धी साहित्य पर रह गया है। इस विषय की मूल पुस्तकें बहुत कम बची हुई हैं। बहुत कुछ चीनी और तिब्बती अनुवादों में ही सुरक्षित हैं। भदन्त शान्तिभिक्षु का सस्कृत और पाली मूलग्रन्थों पर बहुत अच्छा अधिकार है और चीनी तथा तिब्बती का भी उन्हें ज्ञान है। इस पुस्तक के प्रतिपाद्य को उन्होंने नाना स्थानों से चयन किया है। पुस्तक लिखते समय विषय के प्रतिपादन के लिये कुछ थोड़ी-सी ऐसी बातें हीनयानी ग्रन्थों के आधार पर लिखी गई हैं जो उपलब्ध महायानी ग्रन्थों में नहीं मिलतीं। परन्तु मुख्य आधार महायानी ग्रन्थ ही हैं। हिन्दी में मूल पुस्तकों की सहायता से लिखी हुई इस विषय की यह पहली ही पुस्तक है।

पुस्तक को सुलभ बनाने के लिये हम श्री हलवासिया ट्रस्ट की उदार सहायता का कृतज्ञता-पूर्वक स्मरण करते हैं। स्वर्गीय सेठ मोतीलालजी हलवासिया और उनके भाई स्वर्गीय सेठ विश्वेश्वरलालजी हलवासिया बड़े उदार हृदय के वैष्णव भक्त थे। उन्होंने नाना जन-हितकर कार्यों में मुक्त हस्त हो दान किया है। परन्तु उनके नियोजित ट्रस्ट के धन से शान्तिनिकेतन में हिन्दी-भवन की स्थापना करके ट्रस्टियों ने शायद उस दान का सबसे श्रेष्ठ उपयोग किया है। साधारणतः सांस्कृतिक कार्यों के महत्व की ओर कम ध्यान दिया जाता है। हलवासिया-ट्रस्ट ने हिन्दी-भवन की स्थापना करके जो महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक कार्य किया है वह दीर्घकाल तक श्रद्धापूर्वक स्मरण किया जायगा।

पुस्तक की छपाई जैसी चाहिए वैसी सुन्दर नहीं हो सकी तथापि हमें आशा है कि हिन्दी-भवन की ओर से प्रकाशित होनेवाले ग्रन्थों के जिस क्रम का हम आरंभ कर रहे हैं उसमें शीघ्र ही निम्नलिखित पुस्तकें सुन्दर रूप में निकाल सकेंगे :—

१. चौरंगीनाथ और उनकी प्राणसंकली : सम्पादक : हजारीप्रसाद द्विवेदी।

२. अपभ्रंश साहित्य : रामसिंह तोमर।

३. कबीरपन्थी साहित्य : हजारीप्रसाद द्विवेदी।

४. बोधिचर्यावतार : सम्पादक : भदन्त शान्तिभिक्षु।

शान्तिनिकेतन

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

मम दीक्षां विधायैव निर्वृताय महात्मने ।
धर्मानन्दाय गुरवे श्रद्धयाऽञ्जलिरर्प्यते ॥

प्रस्तावना

धर्म और समाज को जो रूपरेखा पहले पहल वेदों में मिलती है उसमें देवासुर या आर्य-अनार्य संस्कृतियों का मिश्रण है। दोनों संस्कृतियों के विश्वासों का संकर है। देवताओं और पितरों की पूजा, स्वर्ग और नरक में विश्वास, समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भेद—सक्षेप से कहें तो आर्य और शूद्र भेद—इन भेदों में शूद्र की हीनता तथा वैश्य, क्षत्रिय, और ब्राह्मणों की उत्तरोत्तर उच्चता का समर्थन बस यही मुख्य बातें हैं जिनकी वेदों में स्पष्ट छाया है। बाद में यज्ञों की जटिलता तथा उनके प्रति कुछ उपेक्षा, बहुत देवताओं के स्थान पर एक देवता (=ब्रह्म) की स्थापना, ब्रह्मलोक या मोक्ष की कल्पनाएं तथा आवागमन के सिद्धान्त की प्रतिष्ठा हुई। मन्त्रकर्ताओं की सबसे बाद की पीढ़ियां और उपनिषदें इन्हीं बातों से भरी हुई हैं।

बाद में धीरे धीरे कुछ और नये विचार उत्पन्न हुए। उन नये विचार देनेवालों में बुद्ध का स्थान बहुत बड़ा है। उपनिषद् के ऋषि सच्चिदानन्द के रस में डूबे हुए थे पर बुद्ध ने इस बात से इन्कार कर दिया, उन्हें ससार में सत् चित् आनन्द कहीं दिखाई हो न पड़े। सभी धर्मों या भावों को उन्होंने असत् (=अनित्य), अचित् (=अनात्म) और दुःख के रूप में देखा। बुद्ध के यह विचार सचमुच बहुत ज्यादा विद्रोहात्मक थे। धर्म के बारे में ही नहीं, सामाजिक क्षेत्र में भी उन्होंने क्रान्तिकारी विचार दिए। जातिगत श्रेष्ठता का जो भाव मन्त्रकर्ताओं की पिछली पीढ़ियों में उत्पन्न हुआ था तथा उपनिषदों के युग में जो बहुत कुछ स्थिर हो चुका था उसे बुद्ध ने इन्कार कर दिया। बुद्ध ने साफ़ साफ़ कहा कि जाति (=जन्म) से कोई ब्राह्मण या शूद्र नहीं होता। जो विद्याचरणसम्पन्न है वही मनुष्यों में बड़ा है। इसके साथ साथ उन्होंने धर्म में एकभाव से सबको अधिकार दिया जो कदाचित् उस युग की बहुत कुछ अनहोनी बात थी। उपनिषदों के बाद बुद्ध के समय (५६० से ४८० ई० पू०) तक तथा बाद में ब्राह्मणों ने एक नये साहित्य का निर्माण किया जो वेदों के अध्ययन में सहायता पहुचाने के लिये था। वेद का सहायक होने से मुख्य साहित्य न मानकर 'अंग' कहा जाता था। यही उस युग का 'वेदांग' साहित्य है। जिसकी रचना सूत्रों में हुई थी। इन वेदांगों में विशेषकर धार्मिक एवं सामाजिक बातों का ब्योरा जिन ग्रन्थों में किया गया था उन्हें संक्षेप से हम सूत्र-ग्रन्थ कहते हैं। इन धर्मसूत्रों में धार्मिक और सामाजिक अधिकारों की चर्चा है। बाद की स्मृतियां या धर्मशास्त्र इन्हींके सहारे बने। शूद्रों के प्रति इनमें बहुत अनुदार भाव हैं। शूद्र के नज़दीक वेदपाठ नहीं करना चाहिए क्योंकि शूद्र श्मशान के समान (अपवित्र) होता है (आपस्तंब०)। शूद्रों के साथ देखादेखी हो जाए तभी वेदपाठ बंद कर देना चाहिए। वेदों का अधिकार द्विजों को ही है। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम ब्राह्मण के हैं। सन्यास को छोड़कर क्षत्रियों के तीन आश्रम हैं। वैश्य के पहले दो—ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के ही षोड़श संस्कार किए जाते हैं (वैखानस धर्मसूत्र, खण्ड १, सू० २-४, १०-१२)। इस तरह शूद्र को

कहीं धर्म और समाज में स्थान नहीं था, वह केवल दास था। सेवा करना ही उसका धर्म था। जिस साधारण अपराध में ब्राह्मण साफ़ साफ़ बच जाता था उसी में शूद्र को कठोर से कठोर दण्ड मिलता था। उसे इतना भी अवसर न था कि अपने अपमान का भी अनुभव कर ले और उन्हें कुछ खरी खोटी भी सुना सके जिनके समाज में वह अपमानित जीवन बिताता था। यदि कभी वह ऐसा कर बैठता तो विचारे की जीभ ज़रूर काट ली जाती (आपस्तंब)। इसी तरह के अनुदार युग में हम उन श्रमणों को देखते हैं जो सर्वथा इन बातों के विरोधी थे और जिनमें बुद्ध का स्थान महत्त्वपूर्ण था। उनकी महत्ता विशेषरूप से इसलिये भी स्वीकार करनी पड़ती है कि उन्होंने अपने समय में लोगों को बहुत ज्यादा प्रभावित किया तथा बाद की बहुत सी पीढ़ियों तक भारत में वह प्रभाव बना रहा। भारत के बाहर तो आज भी उसका कम प्रभाव नहीं है।

बुद्ध ने जिन धार्मिक विचारों को व्यक्त किया उनकी विशेषताओं की ओर ध्यान गए बिना नहीं रहता। बुद्ध ने अपने से पहले की जिन बातों को स्वीकार किया यदि उन्हें उन्हींके शब्दों में कह डालना चाहें तो धम्मपद की यह गाथा बहुत है—

गब्भमेके उपज्जन्ति निरयं पापकम्मिनो।
सग्गं सुगतिनो यन्ति परिनिब्बन्ति अनासवा॥

कुछ लोग (मर मर कर फिर) गर्भ में आते हैं। पापी नरक को जाते हैं। पुण्यात्मा स्वर्ग जाते हैं। आस्रव-रहित मुक्त हो जाते हैं।

पुनर्जन्म (या आवागमन), स्वर्ग-नरक, और मुक्ति बस इतना ही उस समय के धर्म का सार था। बुद्ध इससे विमत न थे पर इन तक पहुँचने के मार्ग के विषय में उनका विचार वैदिक ऋषियों से भी भिन्न था, उपनिषद् के ऋषियों से भी मिलता जुलता न था और उन श्रमणों तथा ब्राह्मणों से भी अलग ही था जो बुद्ध के समय वर्तमान थे।

वैदिक ऋषियों के हिसाब से यज्ञ करने से स्वर्ग मिलता है पर बुद्ध यज्ञों के पक्षपाती बिल्कुल ही न थे। हां, उपनिषद् के ऋषियों की इस बात से सहमति थी कि मुक्ति के लिये यत्न करना चाहिए पर यह सहमति भी कुछ विशेष मूल्य नहीं रखती जब कि उनके सोचने का ढंग सर्वथा उनसे विपरीत था। उपनिषदों के सच्चिदानन्द का बुद्ध के अनित्य दुःख और अनात्म से कुछ भी मेल नहीं था। उपनिषद् के ऋषि आत्मा या ब्रह्म तक श्रवण, मनन, निदिध्यासन से पहुँचना चाहते थे पर बुद्ध के पास आत्मा न था और फिर भी वे श्रवण, मनन और निदिध्यासन के बहुत बड़े हामी थे—'आत्मा नहीं है' बस यही उनके हिसाब से सुनने की बात थी, मनन करने की बात थी, और ध्यान करने की बात थी।

ध्यान जैसे किया जाता था और बुद्ध के ध्यान मार्ग में दूसरों से जो भेद था वह भी कम रोचक नहीं है। लोगों का ख़याल था कि धरती के सबसे नीचे नरक लोक, फिर उससे ज़रा ऊपर प्रेतलोक है, तब धरती है जो तिर्यक और मनुष्यों का लोक है। धरती से ऊपर फिर छः देवताओं के लोक हैं इन सब लोकों को काम धातु कहा जाता है। इनसे ऊपर वे लोक हैं, जहां ध्यान से पहुंच होती है। ध्यान लोक एक दो नहीं है नीचे से ऊपर सत्तरह हैं। इन सत्तरह में से पहले तीन लोकों में प्रथम ध्यान से, फिर उससे ऊपर के तीन लोकों में दूसरे ध्यान

से, बाद में उससे भी ऊपर के तीन लोकों में तीसरे ध्यान से पहुंच होती है। चौथे ध्यान की दौड़ इनसे ज़रा लम्बी है। उसकी एकही सरपट में बचे हुए आठ लोकों तक पहुंचा जा सकता है। इन सत्तरह ध्यान-लोकों को जिन्हें रूप धातु कहा जाता है, पारकर उस जगह पहुंचा जाता है जिसे अरूप धातु कहा जाता है। ख़याल किया जाता था कि शरीर बन्धन से हीन प्राणी वहां खूब आज़ादी से पड़ा रहता होगा। वह अपने आप में मगन होता होगा। उसे किसी बात की सुधबुध न रहती होगी और उस लोक को उसकी विशेषताओं के कारण जहां अनेक नामों से कहा है वहां उसको 'नैवसंज्ञानासंज्ञायतन' कहा है।

बुद्ध इन सब ध्यानों के विपक्ष में तो न थे पर इनके बहुत पक्ष में भी न थे। शौकिया इन ध्यानों का कोई अभ्यास करे तो करे पर मुक्ति के ख़याल से इनके अभ्यास का वे कोई मूल्य नहीं समझते थे। दुःखों से मुक्ति के लिये उनका बताया रास्ता बहुत आकर्षक है। जब मनुष्य अपने दुःख के प्रति सतर्क रहकर उसके ठीक ठीक कारणों को समझ लेता है और उससे निकलना चाहते हुए दुःख दूर करने वाले मार्ग पर चलता है तभी वह दुःख से मुक्त हो पाता है। नहीं तो भटकता हुआ बार बार उसे धरती पर आना पड़ता है। यह बार बार जन्म लेना ही तो बड़ा दुःख है। संसार में मनुष्य जो काम करता है उसमें उसकी इच्छा ही कारण हुआ करती है। यदि इच्छा शक्ति न हो तब तो मनुष्य कुछ भी न करेगा। इसी तरह जन्म ग्रहण करने में इच्छा ही मूल कारण होती है। जब तक इच्छा बाक़ी रहती है तब तक जन्म होता रहता है और जब इच्छा नहीं रह जाती तब जन्म के लिये कोई अवसर नहीं रहता। इस तरह जन्म के अनेकों कारणों में इच्छा या तृष्णा ही मुख्य है। लोभ, द्वेष, मोह, कामराग, व्यापाद, रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य, और अविद्या दोषों (विसुद्धिमग्ग २२.११.२०) के कारण ही मनुष्य को बार बार जन्म लेना पड़ता है। इन दोषों को दूर करने के लिये ठीक ठीक मार्ग पर चलना चाहिए। उस मार्ग में शील को भी स्थान है, योग की विधियों को भी स्थान है पर उतने से ही काम नहीं चलता। उस मार्ग में प्रज्ञा की बहुत बड़ी ज़रूरत है। अनित्यवाद, दुःखवाद और अनात्मवादके सहारे उस मार्ग पर चला जा सकता है। अनित्यता, दुःखमयता और अनात्मता को प्राचीन लोगों ने एक शब्द में कह डाला है। वह शब्द है—'अनुलोम ज्ञान'। (विसुद्धिमग्ग, २१-१२८-१३३) सब जगह जो अनुलोम भाव से—अनुकूल भाव से—अविरोध भाव से साथ देता है वह अनुलोम ज्ञान है। कोई भी चीज़ यदि चित्त को बांधने लगे तो यह अनुलोम ज्ञान सदा छुड़ाने में मदद देगा। यदि आपमें स्वर्ग के प्रति लालसा उत्पन्न हुई तो यह अनुलोम ज्ञान स्वर्ग की बुरी तरह खबर लेना शुरू कर देगा। उस स्वर्ग की चार दिन की चांदनी में रक्खा ही क्या है? फिर भी तो यहीं पर ही भुगतना होगा। और यदि आप स्वर्ग की बात न सोचकर दुनिया में रमने लगे तो फिर इन अनुलोम ज्ञान की दुनिया पर इतनी ज्यादा मेहरबानी होने लगेगी कि आप दुनिया से घबरा उठेंगे। यह आपके बल, रूप, नवयौवन सभी की मिट्टी पलीद करना शुरू कर देगा। यह उन दिनों की याद दिलाने लगेगा जब गालों की लाली उतर जाएगी, सारा मुँह सिलवटों से भर जाएगा, आँखों से सूझ नहीं पड़ेगा, खून में जोश नहीं रहेगा, ठीक सुन नहीं पड़ेगा और ठीक ठीक कुछ भी याद न रह सकेगा। इस तरह आप अनुलोम ज्ञान की कृपा से सोचने लगेंगे कि रूप यौवन आदि पर इतराना सचमुच ठीक नहीं है। ऋतुएं बदलकर फिर फिर आती

रहती हैं। चाँद क्षीण होकर फिर फिर पूरा होता रहता है। पर यौवन यदि गया, वह उसी तरह फिर नहीं लौटता जैसे नदी का पानी ऊपर की तरफ़ से नीचे यदि आ गया तो आ गया फिर नहीं लौटता—

ऋतुर्व्यतीतः परिवर्तते पुनः
क्षयं प्रयातः पुनरेति चन्द्रमाः।
गतं गतं नैव तु संनिवर्तते
जल नदीनां च नृणां च यौवनम्॥ (सौन्दरनंद ९-२८)

यह अनुलोम ज्ञान बौद्धों के धर्म और दर्शन में उसी तरह व्याप्त रहता है जैसे शरीर में गर्मी। इस ज्ञान की उपयोगिता को उपमा द्वारा यों समझाया गया है। कोई आदमी नक्षत्र योग देखने के लिये चांद को देखने निकला। पर चांद बादलों में घिरा होने से दिखाई नहीं दिया। उसी समय हवा के तीन बड़े झोंके आए और पहले झोंके ने बादलों के बड़े भाग को उड़ा दिया। दूसरे झोंके ने भी खूब बादल उड़ाए। इस तरह चांद पर बहुत हलका सा बादल रह गया। इतने में हवा के तीसरे झोंके ने उस बादल को भी उड़ा दिया और चांद आकाश में चमकने लगा। फिर कोई रुकावट न रहने से उस आदमी ने चांद को देखा और नक्षत्र योग जान लिया। इस तरह निर्वाण रूपी चांद स्थूल-मध्यम-सूक्ष्म क्लेश रूपी बादलों से ढका होता है। तीनों अनुलोम ज्ञान रूपी हवा के तीन झोंके उनको उड़ा देते हैं। तब निर्वाण के लिये प्रयत्नशील व्यक्ति उसका साक्षात् कर पाता है। (विसुद्धिमग्ग २२ ८-१०)

यह अनुलोम ज्ञान मार्ग पर डाल देता है, बाद में मार्ग पर चलना और उसको पूरा करना उत्साही की बात है। जिन दस दोषों का ज़िक्र ऊपर किया गया है यदि किसीने सबको एक बार की दौड़ में पार कर लिया तो वह अर्हत् है, मुक्त है। एक बार में यदि कोई मुक्त न हो सका तो भी घबराने की बात नहीं है। उसे अवसर है कि वह धीरे धीरे रास्ते पर चले और मुक्त हो। जो पहली सीढ़ी में लोभ, द्वेष, और मोह को दूर कर लेता है वह स्रोतआपन्न होता है अर्थात् वह उस स्रोत में—उस प्रवाह में अपने को फेंक देता है जिसमें पड़कर उसे अबेरे या सबेरे मुक्त होना ही है। ऐसे ही व्यक्ति के लिये कहा है कि गम्भीर प्रज्ञा द्वारा सुदेशित आर्य सत्यों की जो भावना करते हैं उन्हें आठवीं बार जन्म नहीं ही लेना पड़ता भले ही वे कितना ही प्रमाद क्यों न करें—

ये अरियसच्चानि विभावयन्ति
गम्भीरपञ्ञेन सुदेसितानि।
किञ्चापि ते होन्ति भुसप्पमत्ता
न ते भवं अट्ठमं आदियन्ति॥

इस तरह स्रोत आपन्न अधिक से अधिक सात जन्मों के भीतर ही मुक्त हो जाते हैं। जो लोग और आगे बढ़ते हैं तथा काम राग और व्यापाद दोषों को यदि पूरी तौर पर न उखाड़ सके तो भी उन्हें बहुत कुछ दुर्बल कर देते हैं उन्हें इस संसार में एकबार से अधिक नहीं आना पड़ता। इन्हें इसीलिये सकृदागामी (=एकबार आनेवाला) कहते हैं। और भी आगे बढ़ते हुए जो कामराग और व्यापाद को सर्वथा निर्मूल कर देते हैं उन्हें इस संसार में आना नहीं पड़ता। इसी-

लिये उन्हें अनागामी कहते हैं। वे शुद्धावास देवताओं में उत्पन्न होते हैं और वहाँ से परिनिर्वृत (=मुक्त) हो जाते हैं। जो और आगे बढ़कर रूपराग, अरूपराग, मान, औद्धत्य, तथा अविद्या दोषों को दूर कर लेते हैं वे अर्हत् होते हैं—मुक्त होते हैं (विसुद्धिमग्ग २२-११-२९)। स्रोत आपन्न, सकृदागामी, अनागामी, और अर्हत् को आर्य कहते हैं। इनका जो मार्ग है वह आर्यमार्ग कहलाता है। इनके अतिरिक्त साधारण लोगों को पृथग्जन कहा जाता है। पृथग्जनों में जो आर्यों और आर्यमार्ग के प्रति श्रद्धालु होते हैं उन्हें कल्याण-पृथग्जन कहा जाता है। इस तरह धार्मिक साधना के तारतम्य के हिसाब से बौद्धधर्म मानव समाज को तीन बड़े समूहों में विभक्त करके देखता है। सबसे प्रथम वह समूह है जो बहुत साधारण लोगों का है—जिनका मानसिक विकास नहीं हुआ है या इतना अल्प हुआ है कि उसे गिना नहीं जा सकता। यही लोग पृथक्जन हैं। जो पुण्य कर्मों की ओर झुक चुके हैं वे कल्याण पृथग्जन हैं। पुण्य कर्मों की ओर झुकाव होने पर भी लोग ग़लत रास्ते में बहक सकते हैं—हिंसा आदि अपुण्य कर्मों को भी पुण्य कर्म समझकर उनके करने में अपनेको बरबाद कर सकते हैं, इसलिये ऐसे लोगों को ठीक रास्ते पर डालना उनका काम है जो कि पहुँचे हुए हैं। जो लोग पहुँचे हुए ख्याल किए जाते हैं उनमें बुद्ध के रास्ते का अपना महत्त्व इसलिये है कि उसमें एक मात्र उन दोषों को दूर करने पर ज़ोर दिया गया है जिनके कारण संसार में सब तरह के अनर्थ होते हैं।

यहां सब दोषों की चर्चा न करके तीन दोषों—कामराग, रूपराग, और अरूपराग पर ही एक निगाह डाली जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह तीनों राग ही इस दुनिया और उस दुनिया के झगड़े की जड़ हैं। कामराग का सम्बन्ध इस मनुष्यों की दुनिया से है। यहां के सभी झगड़े इस कामराग के कारण ही हैं। कामराग के कारण ही जब लोगों ने अपने ईमान को खो दिया और अधिक से अधिक जोड़ू-बटोरू हो गए तो ग़रीबों और भुखमरों की जमात पैदा हो गई। उन बिचारों को जब और कोई साधन न मिला तो चोरी डाके तथा साथ साथ में हत्या और खून होने लगे (दीघनिकाय, पृ० २१३)। जिनके पास धन था वे भी उतने से सब्र न कर सके और ज्यादा चाहने लगे, जिनके पास छोटा राज्य था वे उसे बड़ा करने लगे तथा इस तरह राजाओं और धनियों में भी टक्करें होने लगीं। अमीर से ग़रीब किसी को भी शान्ति न रही। कामराग या इस दुनिया की तृष्णा ने क्या ख़राबी नहीं पैदा की? रूपराग और अरूपराग के कारण भी इस संसार में तरह तरह के खटराग होने लगे। तरह तरह के यज्ञ और तप एवं समाधियां आखिर उस दुनिया के लिये ही न, जिसे हम देख नहीं सकते तथा पूरा पूरा भरोसा नहीं कर सकते। बुद्ध ने उस दुनिया से इनकार तो नहीं किया पर उसके लिये किए जानेवाले तरह तरह के उपायों को बन्धन ही कहा। जहां तक समझ में आता है बात यह रही है कि बुद्धयुग की जनता को उस दूसरी दुनिया पर विश्वास था पर उसको ख्याल में रखकर भी लोग बहुत कुछ पुण्य किया करते थे। परलोक के बहाने से होते पुण्य का बंद करना कदाचित् उस समय के लोगों को गुमराह करना था। जब तक मनुष्यका मन इतना संस्कृत न हो कि निर्लिप्त भाव से पुण्य कर्म कर सके तब तक परलोक के बहाने से भी उससे पुण्य करवा लेना बहुत बुरी बात न थी और इसीलिये बुद्ध ने परलोक के विचार को ऊपर से धक्का न दिया। उस समय के लोगों को सच बोलने का आज से बहुत अधिक अभ्यास था तथा परलोक का ध्यान उन्हें रहता था इसलिये

लोग पाप करने से काफ़ी डरते थे। पाप करके छिपाना उन्हें प्रायः नहीं ही आता था। जन साधारण की इस प्रवृत्ति से बुद्ध ने बहुत लाभ उठाया। उनका ख़्याल था कि यदि लोगों में झूठ की बान पड़ गई और परलोक का ख़्याल न रहा तो वे सभी पाप कर सकेंगे—

एकं धम्मं अतीतस्स मुसावादिस्स जन्तुनो।
वितिण्ण परलोकस्स नत्थिपापं अकारियं॥

इस तरह परलोक का समर्थन करते हुए भी बुद्ध ने उसको बहुत न तो महत्त्व दिया है और न उसके लिए किये जानेवाले खटरागों को पसन्द किया। परलोक या स्वर्ग की अपेक्षा स्रोत-आपन्न होना उनकी दृष्टि में बहुत बड़ा था। उन्होंने कहा है—

पथव्या एकरज्जेन सग्गस्स गमनेन वा।
सब्बलोकाधिपच्चेन सोतापतिफलं वरं॥

पृथिवी के एक राज्य, स्वर्गप्राप्ति, तथा सब लोकों के आधिपत्य या स्वामित्व से स्रोत-आपत्ति का फल उत्तम होता है।

इस तरह बुद्ध ने जिस मार्ग का उपदेश दिया उसका मूल्य इस संसार के लिये बहुत ज्यादा है और इस दुनिया से ऊपर उड़ान लेनेवालों को भी निराश नहीं किया गया है। हां, इतना ज़रूर किया गया है कि बेकार के खटरागों या बाह्य कर्मकाण्ड से अलग कर उस मार्ग की ओर लगाया गया है जिसका अभ्यास करते मनुष्य उन सब दोषों को दूर करता है जिससे संसार में सब प्रकार के अनर्थ होते हैं। इन सब दसों दोषों को दूर करना ही बुद्ध का आर्य मार्ग है जिसे लोकोत्तर मार्ग भी कहा गया है। सचमुच बुद्ध के समय लोक में जितने झंझटी मार्ग थे उनसे यह उत्तम या ऊपर ज़रूर था। इस मार्ग का यदि संक्षेप में और भी सार निकालें तो कह सकते हैं **वीतरागता** ही इसका सार है। लोक के प्रति, परलोक के प्रति, सभी के प्रति राग न होना ही मुक्ति है। बुद्ध के अनुसार मुक्ति केवल शान्ति है, सब प्रकार के क्षोभों का अभाव है। किसी ब्रह्म से मिलन या और इसी तरह की बात को बुद्ध मुक्ति नहीं मानते। अश्वघोष ने बहुत सुन्दर उदाहरण देकर इस बात को समझाया है :—निर्वाण को प्राप्त हुआ दीपक जैसे न धरती में चला जाता है, न आकाश में ही उड़ जाता है, दिशाओं और विदिशाओं में भी नहीं जाता, सिर्फ तेल के न रहने से शान्ति पा जाता है वैसे ही निर्वाण को प्राप्त पुण्यात्मा न धरती में समा जाता है न आकाश में उड़जाता है, दिशाओं विदिशाओं में भी नहीं जाता, सिर्फ क्लेश न रहने से शान्ति पा जाता है—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात्केवलमेतिशान्तिम्॥
एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचित् क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥ ३६

इस प्रकार के सरल एवं आडम्बरशून्य मार्ग के शास्ता बुद्ध निश्चय ही अपने समय के बहुत बड़े स्वतन्त्र विचारक होंगे। उनका लौकिक चरित जितना भी त्रिपिटक में से चयन किया जा सकता है निश्चय ही बहुत सरल और आडम्बर-शून्य जान पड़ता है। उस समय जब धर्म-प्रचारक अपने को सर्वज्ञता तथा विविध चमत्कारों का अधिपति मानते थे बुद्ध ही एक ऐसे थे

जिन्होंने अपनी सर्वज्ञता से इन्कार कर दिया था। कितनी ही बातें ऐसी थीं जिनका उन्होंने जवाब देना बिलकुल बेकार समझा था। उनका जीवन एक महान् पुरुष की भांति बीता था। अपने अस्सी बरस के जीवन में अन्तिम पैंतालीस बरस पैदल घूम घूमकर उन्होंने अपने सरल और आडम्बर—शून्य मार्ग का प्रचार किया था। इतना कठिन जीवन बिताने के कारण ही शायद उस पुराने युग में जब लोगों की औसत जिन्दगी काफ़ी लम्बी थी वे अस्सी बरस में ही चल बसे! जीवन के अन्तिम दिनों में उनका शरीर बहुत दुर्बल था पर मन फिर भी दुर्बल नहीं हुआ था। अपने उस वृद्ध शरीर से जिसका रंग और चमक बुढ़ापे के कारण धूसर हो गया होगा, अग बहुत कुछ शिथिल हो गए होंगे, खाल पर सिलवटें पड़ गई होंगी, कमर आगे की ओर झुक गई होगी, इन्द्रियों—आंखों और कानों—की शक्ति भी कम पड़ने लगी होगी; फिर भी अविचलित भाव से लाठी थामे चलते होंगे और अपनी सरल वाणी से तथा सरल मन से उपदेश देते होंगे तब ज़रूर सब को मोह लेते होंगे। उनका लौकिक जीवन निश्चय ही बड़ा आकर्षक होगा। उन्होंने पता नहीं कितने हृदयों को प्रभावित किया होगा।

कोई महापुरुष कितना ही बड़ा क्यों न हों वह सबको पूरा पूरा सन्तुष्ट नहीं कर सकता। बुद्ध के जीवन में ही कितने ही लोग उनके विरोधी थे। बाहरी लोगों की बात जाने दें पर उनकी अपनी शिष्यमण्डली में ही देवदत्त उनका विरोधी ही न था बल्कि उनकी जान लेने पर भी उतारू हो गया था। उनके परिनिर्वाण के बाद जब लोग शोकाकुल थे बूढ़े सुभद्र ने फूहड़पने से कहा था कि अब मत रोओ, हमें छुट्टी मिल गई। उस महाश्रमण से तंग हो रहा करते थे। अब हम जो चाहेंगे करेंगे, कोई कहनेवाला नहीं है कि यह तुम्हें करना चाहिए, यह नहीं।

इस विरोध के कारण से इतना तो समझना ठीक ही होगा कि सब लोग जो बुद्ध-अनुयायियों में थे जीवन के उस आदर्श से सहमत न थे जिसका बुद्ध उपदेश देते थे। बात यह थी कि बुद्ध का मार्ग अत्यधिक आडम्बर-शून्य था। रहन-सहन के नियम बड़े कठोर थे, विशेषकर व्यक्तिगत सम्पत्ति न रखने का नियम होने से वे ही लोग जनता में सत्कार पा सकते थे जो स्वयं गुणवान और ज्ञानवान हों तथा जिनमें चरित्रबल हो। धर्म के नाम पर आडम्बर फैलाकर कुछ भी ठगना कदाचित् सम्भव न था, विशेषकर बुद्ध के रहते रहते तो यह सब हो ही न सकता था फलतः बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद की शताब्दी में ही कितने लोग धन दौलत बटोरने लगे थे, और एक अपनी बड़ी जमात बना ली थी। इस तरह बुद्ध के अनुयायियों में सौ बरस पूरे होते ही फूट पड़ गई। बाद की दूसरी शताब्दी में और भी कितने भेद हुए जिनका कारण सिद्धान्त गत भेदों का हो जाना था। बाद में यह भेद और भी बढ़ते गए तथा बुद्ध के निर्वाण के बाद की पांचवीं शती बीतते बीतते लोगों ने बुद्ध के मनुष्यरूप को बिलकुल भुला डाला।

बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद दूसरी से पाँचवी शती के बीतते बीतते स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् के आर्यमार्ग के अतिरिक्त दो और मार्ग निकल आए। बुद्ध ने अपने जीवन में ही जिन बहुत-सी बातों का जवाब नहीं दिया था उनमें से एक बात यह भी थी कि मरने के बाद बुद्ध का क्या होता है? साधु-महात्माओं में अलौकिकता का विश्वास कर लेना जनसाधारण की आदत है। किसी भी महापुरुष को उसके जीवन में ही

अत्यधिक लाभ-सत्कार पाता देख साधारण लोग उसके मूल कारण तक नहीं पहुंच पाते पर उन्हें अपने आपको भरोसा देने के लिये कुछ कारण तो चाहिए ही ; फलतः उनमें लोकोत्तरता का आरोप कर लेना सबसे अधिक सहज कारण है जिसमें किसी तरह के खटके या सन्देह को बिल्कुल ज़रूरत ही नहीं। इस लोकोत्तरता के आरोप की भावना ने बुद्ध को लौकिकता को मिटा दिया और "बुद्ध" एक वैसा ही रहस्यमय पदार्थ बन गया जैसा कि उपनिषदों का "ब्रह्म"।

ब्राह्मणों के ब्रह्म और श्रमणों के बुद्ध का विकास बहुत कुछ साथ साथ हुआ है और उनमें समानताएं भी बहुत हैं। उपनिषदों के हिसाब से ब्रह्म ही जगत् के विकास का मूल है। सब जगत् उसीसे उत्पन्न हुआ है, उसीके सहारे ठहरा है, और उसीमें लीन हो जाएगा। वह देवताओं का भी देवता है। उससे परे और कुछ भी नहीं हैं। श्रमणों के हिसाब से बुद्ध जगत् के विकास के मूल नहीं हैं पर मानवीय विकास के—मनुष्य के मन के विकास के—अन्तिम विकास हैं ; उससे अधिक मनुष्य का और कोई भी विकास नहीं है। ठीक यही बात ब्रह्म के साथ भी जुड़ी है। मानवीय जीवन की परम उत्कृष्टता ब्रह्म की प्राप्ति ही है। ब्रह्म की प्राप्ति से पूर्व का जीवन कितना ही पूर्ण क्यों न हो अधूरा ही है। बुद्ध और ब्रह्म में यदि कोई अन्तर है तो यही है कि ब्रह्म विकास का बीज भी है और विकास की परमावस्था भी है पर बुद्ध कोरा विकास है। ब्रह्म की बीजावस्था और अन्तिम विकासावस्था में कोई भेद नहीं है, दोनों एक ही हैं ; पर बुद्ध की बीजावस्था और विकासावस्था परस्पर भिन्न हैं—ठीक उसी तरह भिन्न हैं जैसे बीज और वृक्ष।

पारमिताओं के पूरा करने से मनुष्य बुद्ध हो सकता है, इसके लिये अनेक जन्मों तक रगड़ करनी पड़ती है। ब्रह्म तक पहुँचने में भी एक जन्म नहीं अनेक जन्म चाहिए पर बुद्धत्व प्राप्ति की भांति ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय निश्चित नहीं है—विभिन्न सम्प्रदाय के साधकों की विभिन्न सम्मतियां हैं। ज्ञान से, कर्म से, भक्ति से, या इन तीनों का बुद्धिपूर्वक उपयोग करने से ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

बुद्धत्व प्राप्त करना या ब्रह्मत्व प्राप्त करना अपने आपमें प्रयोजन सहित है या उसका प्रयोजन कुछ और है ? बौद्धों के हिसाब से अपने अकेले की मुक्ति की भावना छोड़ सब प्राणियों को मुक्त करने का सामर्थ्य प्राप्त करने के लिये ही मनुष्य बुद्धत्व प्राप्त करता है। साफ़ कहा है—

किं मे एकेन तिण्णेन पुरिसेन थमदस्सिना।
सब्बञ्ञुतं पापुणित्वा सन्तारेस्सं सदेवकं ॥४१

मेहनत कर मेरे अकेले तरजाने से क्या ? सर्वज्ञता प्राप्त कर देवताओं के सहित इस लोक को तारूंगा।

ब्रह्मत्व प्राप्ति का प्रयोजन इतना बड़ा नहीं है। वह केवल अपने तरने के लिये ही है, दूसरों को तारने की फ़िक्र वहाँ नहीं है।

एक और भी बड़ा अन्तर है। बुद्धत्वप्राप्ति संसार के लोगों के बीच में उनका उद्धार करने के लिये होती है। पर ब्रह्मत्व प्राप्ति होने पर इस शरीर, इस जन्म और इस लोक से सम्बन्ध नहीं रह जाता है।

जो मनुष्य बुद्धत्व प्राप्ति के लिये पारमिताओं का अभ्यास करता है वह बोधिसत्त्व कहलाता है। पारमिताओं की अभ्यासावस्था ही बोधिसत्त्वता है और पूर्णता ही बुद्धता है। अभ्यासावस्था में बोधिसत्त्व प्राणियों का हित करता है और हित करने के लिये बार बार जन्म धारण करता है। पूर्णता होने पर फिर जन्म नहीं होता फलतः प्राणिहित की दृष्टि से पूर्णता का उपयोग विशेष नहीं है फिर भी पूर्णता की अवस्था में ही उस मार्ग का उपदेश दिया जा सकता है जिसपर चलते हुए लोग बुद्धत्व प्राप्त कर सकें। मार्ग का उपदेश करने के लिये बुद्ध का होना अपेक्षित है। बुद्ध के उपदेशों के अनुसार जो केवल अपने मोक्ष के लिये प्रयत्न करते हैं वे अभ्यासावस्था में स्रोतआपन्न, सकृदागामी, अनागामी होते हुए अर्हन् या मुक्त हो जाते हैं। जो अपने मोक्ष का ख्याल कर सबके मोक्ष के लिये पारमिताओं का अभ्यास करते हैं वे अभ्यासावस्था में बोधिसत्त्व कहलाते हैं, पूर्णता में वे ही बुद्ध होते हैं। बुद्ध मार्ग के आविष्कर्ता हैं। बोधिसत्त्व पूर्णतया बुद्ध मार्ग पर चलनेवाले हैं और कदाचित् इसीलिये इस मार्ग को बड़ा मार्ग या महायान कहा गया है। अर्हन् जिस मार्ग पर चलते हैं वह भी बुद्ध का कहा हुआ है पर उसमें पूर्णता नहीं है प्रत्युत केवल अपनी मुक्ति का ख्याल होने से वह छोटे मनवालों की बात जान पड़ती है। इस छोटेपने के कारण उसे छोटा मार्ग या हीनयान कहा गया है। अर्हन् बुद्ध के बताए मार्ग पर चलकर ही अर्हन् होते हैं पर यदि कोई स्वयं ही अपनी मुक्ति का मार्ग निकाल ले तो उसे अर्हन् से बड़ा तो ज़रूर कह सकते हैं पर वह उस मार्ग से बड़ा नहीं है जिस पर बोधिसत्त्व चलते हैं। अपनी मुक्ति के लिये खुद राह निकाल लेना पर दूसरों को वैसा ही छोड़ देना ठीक उस स्वार्थी की नीयत है जो अपने ऊपर आ बीतने पर सब कुछ कर सकता है पर दूसरों के लिये कुछ नहीं, इसलिये महायान को देखते यह यान भी हीन ही है। यों तीन यान हुए। श्रावक (=अर्हत्) यान, प्रत्येकबुद्धयान दोनों हीनयान हैं। पहला अपनी मुक्ति के लिये बुद्ध के रास्ते पर चलता है, दूसरा अपने आप रास्ता निकालकर मुक्त होता है।

बुद्धत्वप्राप्ति मनुष्य लोक में ही होती है इसलिये मनुष्य के लिये उसका उपयोग भी है। विशेषतः बुद्धत्वप्राप्ति से पूर्व की अवस्था, जिसमें बोधिसत्त्व पारमिताओं का अभ्यास करता है, केवल लोकहित की भावना से ओतप्रोत होती है। अभ्यास की पूर्णता या बुद्धता की प्राप्ति होने पर अपार प्राणियों के मोक्ष के लिये धर्म वर्षा होती है। ब्रह्म के पास इस प्रकार के लोकहित की भावना का पूर्व युग में अभाव देखा जाता है। मन्त्रकर्ताओं के युग में देवताओं का मनुष्य के बीच में आने जाने तथा बहुत कुछ लोक के हिताहित करने का ज़िक्र है पर उपनिषदों के युग के ब्रह्म में यह प्रवृत्तियां नहीं दिखाई पड़तीं। ज्यों ज्यों समय बीतता गया उपनिषदोंका निष्काम एवं निष्क्रिय ब्रह्म बाद में कुछ क्रियाशील भी माना जाने लगा। गीता में जिसे उपनिषदों का सार समझा जाता है, ब्रह्म बहुत कुछ लोक के हिताहित से बंध गया है। वह अधर्मियों को मारने तथा धर्मियों की रक्षा के लिये युग युग में जन्म लेने का वादा करता है। ब्रह्म के साथ यह बात कहाँ से और कैसे आकर जुड़ गई, कुछ भी ठीक ठीक कहना मुश्किल है पर इसमें और बोधिसत्त्व के जन्म लेने के प्रयोजन में समानता है। बोधिसत्त्व प्राणिहित के लिये बार बार जन्म लेता है। ब्रह्म का अवतार भी प्राणिहित के लिये होता है। इतना भेद ज़रूर है कि ब्रह्म अवतार ले अधर्मियों का नाश भी करता है पर बोधिसत्त्व अपने

आध्यात्मिक प्रभाव से अधर्मियों को धार्मिक बनाता है। यह अन्तर विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करता है।

बोधिसत्त्व का प्रणिहित के लिये जन्म लेना और ब्रह्म का अवतार लेकर इस लोक में उत्पन्न होने का ख्याल कैसे उत्पन्न हुआ होगा? ज़रा छानबीन कर प्राचीन धार्मिक प्रवृत्तियों को देखें तो कुछ साधारण बातों की ओर ध्यान गए बिना नहीं रहता

वैदिक युग में यज्ञों द्वारा जो देवपूजा होती थी उनमें देवताओं का स्वरूप मानवीय न था पर इन्द्र आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों की कहानियां इन्द्र आदि देवताओं के साथ जुड़ गईं तो उनका स्वरूप बहुत कुछ मानवीय हो गया तथा लोग यह ख्याल करने लगे कि देवता शायद मनुष्यों की तरह ही कहीं रहते हैं। वे मनुष्योंके पास खास खास अवसरों पर आया भी करते थे। बाद को उपनिषदों के समय में ब्रह्म देवताओं का भी देवता बन गया। उसे भी देवताओं के बीच एक बार आते हमने एक पीछे की कहानी में देखा है। पर मनुष्यों के बीच आने की ज़रूरत उसे कदाचित् तब तक नहीं पड़ी थी, पर बाद में वह मनुष्यों के बीच में कैसे उत्पन्न होने लगा?

बुद्ध का रूप इतना सरल एवं मानवीय था कि लोग उससे सन्तुष्ट न रह सके और उनके साथ लोकोत्तर बातें जोड़कर बहुत कुछ उन्हें लोकोत्तर बना डाला। तथापि उनकी लौकिकता और मानवता मिट न सकी। ब्रह्म का रूप जटिल था, उसमें वैदिक युग के देवताओं-जितनी भी लौकिकता न थी फलतः उसको लौकिक और हृदयगम्य बनाने के लिये बहुत कुछ मानवता के निकट लाना बहुत ज़रूरी था। इस तरह एक ओर बुद्ध को लोकोत्तर बनाने के प्रयत्न हुए और दूसरी ओर ब्रह्म को लौकिक बनाने के। ब्रह्म को देवताओं के रूप में देखना—विष्णु आदि को ब्रह्म की सगुण मूर्ति मान लेना कदाचित् पहला प्रयत्न था जिसमे ब्रह्म बहुत कुछ मनुष्य के लिये बोधगम्य हुआ पर इतना ही काफ़ी न था। ब्रह्म को और भी निकट लाने की ज़रूरत थी और वह तब हुआ जब स्वयं विष्णुरूपी सगुण ब्रह्म अथवा साक्षात् भगवान् ब्रह्म कृष्ण बनकर अधर्मियों का नाश करके धर्म की रक्षा करने लगे।

ब्रह्म ने इस तरह लौकिक होने में कई विशेषताएं भी साथ में ली जो बुद्ध में न थीं। बुद्ध साधु थे। उनका रूप परम मानवीय होते हुए भी साधु रूप था, त्याग का रूप था, वैराग्य का रूप था। उसको पूरे तौर पर हृदयङ्गम करना और अपना लेना जनसाधारण के बूते की बात न थी। साधु रूप की अपेक्षा वह रूप जिसमें बालबच्चों, स्त्रियों और धन दौलत को स्थान हो, अधिक हृदयंगम हो सकता है। यह बात बौद्ध लोग अच्छी तरह से जानते थे और इसीलिये बुद्ध की बोधिसत्त्वावस्था की कहानियों में, जो कदाचित् आरम्भ में कोरी कहानियां थीं और बाद में बुद्ध के जीवन के साथ जोड़ दी गईं, इस प्रकार के मानवरूप को भी धर्म के भीतर अपनाया गया जो आज भी पत्थरों की प्रतिमाओं तथा चित्रों के बीच सजीव हो रहीं हैं। पर इनके भीतर फिर भी वैराग्य की अमिट छाप बनी रही, त्याग और उत्सर्ग ही उनका प्राण बना रहा। कदाचित् उस संग्रहप्रधान युग में इतने त्याग-अपरिग्रह के भावों को अपना लेना सरल न था। इन सब अभावों को सगुण ब्रह्म के अवतारों ने पूरा कर दिया। जीवन का ध्येय वैराग्यप्रधान न रहकर रागप्रधान हो गया। दया और अहिंसा का आदर्श रहा पर उसके साथ

दंड भी आ जुड़ा। बोधिसत्त्व में अपचारियों के प्रति भी उपकार करने की भावना थी पर सगुण ब्रह्म के अवतारों में वह बात न रही। जैसा लोग उससे बरतेंगे वह भी वैसा ही बरतेगा, और दुनिया के लिये उसीके पीछे चलना उसे पसन्द भी है—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥"

इतना ही नहीं, सगुण ब्रह्म ने अपना इतना विस्तार किया कि बुद्ध का व्यक्तित्व भी बहुत कुछ धुंधला हो गया और बहुत कुछ बिगड़ भी गया। जिस समय पुराणों में यह कथा जोड़ दी गई कि विष्णु ने असुरों की शक्ति को कम करने के लिये, उन्हें धार्मिक मार्ग से छुड़ाकर अधार्मिक मार्ग में लगाने के लिये बुद्ध का अवतार धारण किया, निश्चय ही उस समय यह बुद्ध के ऊपर बहुत बड़ा हमला था। जिस बुद्ध का उपदेश अधर्म मार्ग पर लगाना है उसे भला लोग भारत में क्यों याद करते? इस प्रकार की विषम अवस्था के बीच बुद्ध और बुद्ध के उपदेशों को प्रचलित रखना कम हिम्मत की बात न थी और विशेष कर उस दशा में तो किसी तरह बुद्ध धर्म को टिकाए रखना बड़ी ही व्यावहारिक बुद्धि का काम था जब प्रचार के द्वारा जनमत को उलट देना कठिन बात नहीं थी। महायान ग्रन्थों में इस तरह के खतरे का धुँधला ज़िक्र है। बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद की पाँच शताब्दी बीतते बीतते जिस **सधर्म-विप्रलोप** की चर्चा है, वह कदाचित् यही है जब बुद्ध के स्वरूप और धर्म में मिलावट की जा रही थी। इस तरह के आन्तरिक विरोधों से जर्जरित होते होते और अपनी रक्षा के लिये बाहर की सामग्री समेटते समेटते वह इतना बदला कि उसमें और हिन्दुओं में भीतरी भेद बहुत ही कम रह गए। ऊपरी भेद बहुत दिन तक बने रहे। हिन्दुओं के नेता ब्राह्मण रहे और बौद्धों के नेता साधु या भिक्षु रहे पर बाद में बाहरी आक्रमणों ने मठों को नष्ट किया, भिक्षु भारत से बाहर जो भाग सके भाग गए और उन्होंने प्रत्यन्त देशों की शरण ली। इस तरह भिक्षु-संस्था के उच्छिन्न होने से भारत में बौद्ध साहित्य की चर्चा भी बन्द हो गई। आज हम दुबारा उस धर्म और साहित्य की चर्चा करने लगे हैं। बुद्ध धर्म के उतार चढ़ाव का प्रभाव उसके साहित्य में ओतप्रोत है इसलिये उसके साहित्य पर एक दृष्टि डालने से पूर्व अब तक जिस धार्मिक उतार चढ़ाव की यहाँ चर्चा की गई उसका सार निकाल लेना बड़े काम का रहेगा—

(१) बुद्ध से पहले देव-पूजा और पितर-पूजा धर्म के अंग थे; स्वर्ग नरक की कल्पना उत्पन्न हो चुकी थी। वर्ग भेद था। देवताओं के बारे में भी मनुष्य की तरह सोचा जाता था, उनका लोक, उनके नगर, उनके बाल बच्चे सभी की कल्पना थी। देवता मनुष्यों के बीच आते थे।

(२) बाद में देवताओं का स्थान ब्रह्म की उपासना ने ले लिया पर देवताओं का अस्तित्व वैसे ही बना रहा। मनुष्यों के पास उनके आने का विश्वास भी पूर्ववत् क़ायम रहा। स्वर्ग-नरक बने रहे। वर्ग भेद रहा, तथा पुनर्जन्म और मुक्ति के विचार उत्पन्न हो गए। समाधि ने धार्मिक साधना में सबसे बड़ा स्थान लिया।

(३) बुद्ध के समय यह सब बातें थीं। बुद्ध ने धर्म के भीतर वर्ग-भेद अथवा जन्म

से छोटे बड़े होने की बात नहीं मानी। ब्रह्म को मानने से भी इनकार कर दिया। धार्मिक साधना में बहुत कुछ लौकिकता और मानवीयता ला दी। धर्म कोरा लोकोत्तरता की उड़ान न रहा प्रत्युत वह शरीर और मन को विनीत करने का मार्ग बन गया। वह इतना लौकिक बन गया कि उसमें किसी देवता या ब्रह्म की प्रधानता न होकर मनुष्य की प्रधानता हो गई। बुद्ध का रूप उस समय ठीक मनुष्यवत् ही रहा, भले ही उनमें दुर्लभ गुणों का समावेश माना जाता रहा हो। इस तरह अब दो धार्मिक प्रवाह साथ साथ बहे, एक बुद्ध-प्रमुख प्रवाह और दूसरा ब्रह्म-प्रमुख प्रवाह। आगे चलकर इन दोनों में परिवर्तन हुए—

बुद्ध	ब्रह्म
क—आरम्भिक रूप अत्यन्त लौकिक, पूरे तौर पर मानवीय ;	क—आरम्भिक रूप अत्यन्त लोकोत्तर, सर्वथा अमानवीय ;
ख—बुद्ध के रूप का विस्तार, पूर्व जन्मों के विषय में कहानियों की सृष्टि द्वारा ;	ख—ब्रह्म के सगुण रूप के अवतारों द्वारा मानवों के बीच जन्म लेने का सिद्धान्त ;
ग—बुद्धत्व प्राप्ति जीवन का परम उद्देश्य और उसे पाने के लिये पारमिताओं का अभ्यास अनेक जन्मों तक करना ;	ग—ब्रह्म तक लोग साधारणतया नहीं पहुँच सकते इसलिये लोगों के उद्धार के लिये स्वयं ब्रह्म का अवतार धारण करना ;
घ—बुद्ध और बुद्धत्व प्राप्ति के लिये अभ्यास करनेवाले में क्षमा का परम स्थान, अपराधी के प्रति भी दया भाव, निरपवाद अहिंसा का भाव।	घ—अपराधियों एवं अधर्मियों के प्रति अवतार को अक्षमा तथा उनका संहार।

(४) बौद्धों में आरम्भ से ही धर्म का रास्ता सबके लिये खुला था पर जिस समाज के व्यवस्थापक ब्राह्मण थे उसमें बुद्ध से बहुत पहले ही समाज हीन और उच्च भेदों में विभक्त कर दिया गया था। वह सब भेद बुद्ध के समय और बाद में भी बना रहा पर धर्म-साधना में बिना किसी भेद के बौद्धों ने सबको स्थान दिया। यह विशेषता बौद्ध धर्म में अन्त तक बनी रही।

(५) इस तरह बुद्ध को चाहे जितना लोकोत्तर बनाया गया हो और ब्रह्म को चाहे जितना लौकिक बनाया गया हो पर दोनों न तो एक हो सके और न धर्म के आदर्शों में ही समता आई। बौद्धों की अपनी कितनी ही विशेषताएं साथ में बनी रहीं जिनमें यदि और सब बातों की ओर से आखें मूंद भी लें तो भी दो बातों की ओर ध्यान गए बिना नहीं रहेगा—

क—धर्म में सबकी समानाधिकारिता और जातिगत भेदों का विद्रोह।

ख—धर्म में मानव-प्रधानता तथा अतिमानवता की मानवता से पृथक् सत्ता का अस्वीकार एवं उनकी उपासना के प्रति विद्रोह।

इस तरह हमने संक्षेप में देखा कि किस तरह बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद धार्मिक प्रवृत्तियों के परस्पर आदान प्रदान, विकास ह्रास, एवं परिवर्तन हुए। इस परिवर्तन के कारण बौद्धों ने जिस साहित्य का विकास किया उसपर भी संक्षेप में एक निगाह डाल लेनी है।

प्राचीन लोगों ने बौद्ध धर्म को दो भागों में विभक्त किया है। एक भाग उसके साहित्यिक रूप पर प्रकाश डालता है दूसरा उस साहित्य के भीतर विद्यमान धार्मिक प्रवृत्तियों और भावनाओं को बतलाता है। पहले को आगम कहते हैं और दूसरे को अधिगम।

आगम का मूलरूप कैसा रहा होगा ठीक ठीक कहना असम्भव है। शुरू शुरू में शायद उसमें कितने ही तरह के उपदेश (=प्रवचन) रहे होंगे और उनका किसी भी तरह का वर्गीकरण न रहा होगा। अध्ययन अध्यापन करते करते उनकी विशेषताओं की ओर गुरु-शिष्यों का ध्यान गया होगा तब अलग अलग टाइप के उपदेशों के अलग अलग नाम रक्खे गए होंगे। यह ठीक उसी तरह हुआ होगा जैसा कि वेदों की अध्ययन-अध्यापन-परम्परा में ऋषियों के मन्त्रों के सम्बन्ध में हुआ। लोगों ने देखा कि मंत्रों में कहीं उत्तम पुरुषवाचक सर्वनाम होता है, कहीं मध्यम पुरुषवाचक सर्वनाम और कहीं अन्य पुरुषवाचक सर्वनाम एवं नाम होते हैं। उन्होंने इस तरह उत्तमपुरुष सम्बन्धी मन्त्रों को आध्यात्मिक, मध्यमपुरुष सम्बन्धी मन्त्रों को प्रत्यक्षकृत तथा अन्यपुरुष सम्बन्धी मन्त्रों को परोक्षकृत कहा। इतना ही नहीं, उन्हें मन्त्रों में कहीं स्तुति, कहीं आशीर्वाद, कहीं शपथ, कहीं अभिशाप, कहीं आचिख्यासा, कहीं परिदेवना, कहीं निन्दा, और कहीं प्रशंसा दिखाई पड़ी। और इन्हीं बातों का ख्याल रखकर उन्होंने मन्त्रों के वर्णन को विविध भागों में विभक्त किया (निरुक्त, अध्याय ७, खण्ड २, ३)। बौद्ध साहित्य के बारे में भी यही बात हुई। शुरू में बुद्ध और उनके शिष्यों के प्रवचन बिना किसी विभाग की ओर ध्यान दिए ही याद कर लिए जाते रहे होंगे पर जब उनका सकलन और सम्पादन तथा परिवर्धन हुआ होगा तब उनकी विशेषताओं की ओर ध्यान गया होगा। बुद्ध के प्रवचन कई ढंग के हैं।

पालिपिटक में ही नौ प्रकार के प्रवचनों की चर्चा है—

(१) सूत्र (=सुत्त) : असंग ने "सूचनात् सूत्रम" अर्थात् सूचना देनेवाला होने से सूत्र को सूत्र कहा है (महायान सूत्रालकार ९।३)। उनके हिसाब से सूत्र से चार प्रकार की सूचनाए मिलती हैं। आश्रय की सूचना सूत्रों से मिलती है। आश्रय से यहां पर तीन बातों को समझना चाहिए। देश या वह स्थान जहां प्रवचन दिया गया। प्रवक्ता या वह व्यक्ति जिसने प्रवचन दिया। श्रोता या वह व्यक्ति जिसको समझाने के लिये उपदेश दिया गया। लक्षण की सूचना सूत्रों से मिलती है। लक्षण दो तरह के होते हैं। पहला है संवृति सत्य या व्यवहार सत्य। व्यवहार करते समय साधारण लोग तथा विशेषज्ञ जिस बात को जैसा कहते हैं वह व्यवहार सत्य है। जो बात केवल विशेषज्ञों के भीतर ही सीमित रहती है वह परमार्थ सत्य है। इन दोनों सत्यों को एक उदाहरण द्वारा समझना ठीक रहेगा। आकाश शून्य है ; उसका कोई रंगरूप नहीं, यह बात विशेषज्ञ लोग मानते हैं। पर व्यवहार में साधारण लोग आकाश को नीला कहते हैं। यहाँ आकाश का रंगरूप-हीन होना या मानना परमार्थ सत्य है। आकाश को नीला कहना व्यवहार सत्य है। धर्म की सूचना सूत्रों से मिलती है। मनुष्य के ज्ञान का जो भी स्थूल-सूक्ष्म सुज्ञेय-दुर्विज्ञेय, निश्चित-सन्दिग्ध है, सभीको एक धर्म शब्द से कहा जाता है। अर्थ की सूचना सूत्रों से होती है। किसी-न-किसी अभिप्राय को लक्ष्य में रखकर ही प्रवचन होता है। उस अभिप्राय या निष्कर्ष ही को अर्थ कहा जाता है। सूत्र की यह व्याख्या बड़ी ही सुन्दर और हृदयगम्य है। "सूचनात् सूत्रम्" यह व्युत्पत्ति भी कम रोचक नहीं है। पर सूचना तो सभी

प्रकार के साहित्य से मिलती है फिर भी सबको सूत्र नहीं कहा जा सकता। जान पड़ता है बुद्ध और उनके कुछ पीछे तक ब्राह्मणलोग एक प्रकार का साहित्य तैयार कर रहे थे जिसे कल्प कहा जाता था। कल्प वेदाङ्गों में से एक वेदांग है। इन कल्पों का विकास ब्राह्मणग्रन्थों के गद्य से हुआ जान पड़ता है। इतना अन्तर ज़रूर है कि ब्राह्मणों की शैली किसी बात को खूब विस्तार से कहने की है पर इन कल्पों में हर बात बहुत सक्षेप से कही गई है। इनकी सक्षेप शैली का नाम ही सूत्र है। बौद्धवाङ्मय की शैली सक्षेप में कहने की शैली नहीं है प्रत्युत बहुत विस्तार से कहने की शैली है पर जिस समय बुद्ध और उनके शिष्यों के प्रवचन हो रहे थे, उस समय सूत्र शब्द एक खास प्रकार के धार्मिक साहित्य के लिये रूढ़ होने लगा था और उस रूढ़ि से प्रभावित होकर ही बौद्धों ने अपने प्रवचनों को सूत्र कहा। ठीक उसी तरह जैसे जैनों ने अपने धार्मिक साहित्य को सूत्र कहा और अंग भी कहा। अंग शब्द भी बहुत ही संकेतपूर्ण है। वेदों के अंग साहित्य (या वेदांग) का उसपर बहुत स्पष्ट प्रभाव जान पड़ता है।

(२) गेय (गेय्य)—अगलद्दूपमसुत्त (मज्झिम निकाय, २२वां सुत्त) की अट्ठकथा में लिखा है कि सुत्तों में जो गाथाओं का हिस्सा है वह गेय है। प्रवचनों का एक टाइप गाथा भी है और अट्ठकथा के हिसाब से गाथाएं ही वस्तुतः गेय हैं। फलतः गेय और गाथा विभाग वस्तुतः एक ही हैं। पर गेय और गाथा को अलग कहना इतना ही बतलाता है कि गेय या गान करने में केवल गाथाएं ही काम आती थीं—भले ही सब गाथाएं काम न आती हों। गेय और गाथाओं को यदि ऋचाओं और सामों से तुलना करें तो यह बात और भी साफ़ हो जाती है। ऋचाएं ही जब गाई जाती हैं, तब साम कहलाती हैं 'ऋच्यध्यूढं साम गीयते।' सामवेद सहिता उठा लीजिये तो जान पड़ेगा कि उसमें सभी ऋचाएं ही हैं। गीतावस्था में ऋचाएं जैसे साम कहलाती हैं वैसे गीतावस्था में गाथाओं का नाम ही गेय है।

(३) व्याकरण (संक्षेप का विस्तार करना)। (४) गाथा। (५) उदान (=उल्लासवाक्य)। (६) इतिवुत्तक (इतिवृत्तक ?) (७) जातक। (८) अद्भुत धर्म। (९) वेदल्ल। इनमें उदान और इतिवुत्तक नाम से खुद्दक निकाय में दो ही ग्रन्थ हैं। उदान में बुद्ध के सभी उदान या उल्लास वाक्य शामिल नहीं हैं; कितने ही पिटक में इधर उधर बिखरे पड़े हैं, जिनका संग्रह उदान में नहीं हुआ है। इतिवुत्तक में प्रत्येक उक्तक के आदि में वाक्य है—"वुत्तं हेतं भगवता वुत्तमरहतेति"—भगवान् ने यह कहा, अर्हत् ने यह कहा। चूंकि "यह कहा—इति उक्तम्" से सभी उक्तकों का आरंभ है इसलिये इस पोथी का नाम इतिवुत्तक पड़ा। संस्कृत में इसे इत्युक्तक कहना ठीक होगा पर सस्कृत ग्रन्थों में इतिवृत्तक शब्द है (सद्धर्म पुण्डरीक, पृ०४५) जो पाली का ठीक प्रतिशब्द नहीं है। जातक से अभिप्राय उन कथाओं से है जिनका प्रवचनों में उपयोग होता था। पालिपिटक में आज जातक नाम से ५४७ जातकें हैं। पर जातकें इतनी ही नहीं हैं, महागोविन्द जातक जैसी कितनी ही जातकें इस संग्रह से बाहर हैं। जातक कथाएं सचमुच भारत में प्रचलित प्राचीन समय की कथाओं का संकलन हैं। इनका सबसे पुराना रूप क्या होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता। पालिपिटक में जातकें आज अपनी अट्ठकथा के साथ परिमार्जित रूप में मिलती हैं। इनमें जातकों को तीन भागों में विभक्त करके कहा है। दूरेनिदान, अविदूरे निदान और सन्तिकेनिदान। इन तीन विभागों में जातकें दूरेनिदान के अन्तर्गत हैं।

पुराने समय में एक सुमेध नामक परिव्राजक थे। उन्हींके समय दीपंकर नामक एक बुद्ध उत्पन्न हुए लोग बुद्ध की अगवानी के लिये रास्ता सजा रहे थे। तब सुमेध भी वहां पहुँचे। लोगों ने जगह बताई। वहाँ कीचड़ था। यह सूखी मिट्टी से कीचड़ पाट भी न पाए थे कि बुद्ध उस रास्ते निकले। बुद्ध को आते देख इन्होंने अपना मृगचर्म कीचड़ पर बिछा दिया और स्वयं भी लेट रहे। उनके मन में संकल्प हुआ कि मैं तपस्वी हूँ। चाहूँ तो मुक्त हो सकता हूँ। पर अपनी मुक्ति में धरा ही क्या है। मैं सबको तारूंगा और सबको तारने के लिये यत्न करूंगा। सुमेध यह सोच ही रहे थे कि बुद्ध निकले और तपस्वी को अपने लिये इस तरह श्रद्धायुक्त देख उसके मनोभाव को ताड़कर उन्होंने भविष्यवाणी की यह आगे चलकर बुद्ध होगा। बाद में सुमेध ने अनेक जन्म धारण किए तथा सब पारमिताएं पूरी कीं। पारमिताएं पूरी करते करते उन्होंने विभिन्न कल्पों में चौबीस बुद्धों की सेवा की। यों बाद में तुषित लोक में उत्पन्न हुए। फिर तुषित लोक से कपिलवस्तु के राजा शुद्धोधन की पत्नी मायादेवी में जन्म लिया। जन्म लुम्बिनी में, नाम सिद्धार्थ हुआ। उनतीस वर्ष की अवस्था में घर-बार छोड़ा और पैंतीस वर्ष की अवस्था में बुद्धगया में बोधि प्राप्तकर सारनाथ में धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। यों पैंतालिस वर्ष तक मध्यदेश में धर्म का प्रवचन करते रहे और अस्सी वर्ष की अवस्था में कुशीनगर में उनका परिनिर्वाण हो गया।

इस कथा में दीपंकर तथागत के दर्शन से लेकर तुषितलोक में उत्पन्न होने तक की कथा 'दूरेनिदान' कहलाती है। जन्म से बुद्धगया में बोधिप्राप्ति तक की कथा 'अविदूरेनिदान' कहलाती है। फिर परिनिर्वाण तक की कथा 'सन्तिकेनिदान' कहलाती है।

बुद्ध के मानवीय स्वरूप की कथा अविदूरेनिदान और सन्तिकेनिदान के भीतर ही है; मानवीय बुद्ध के साथ दूरेनिदान की अतिकथाएं कैसे और कब कब जुड़ीं तथा उनकी संख्या में वृद्धि और विकास कब कब और कैसे कैसे हुआ—कुछ भी ठीक नहीं। पर अविदूरे-निदान और उसके साथ अतिकथाओं का जोड़-तोड़ कदाचित् ईसा की पहली शताब्दी तक बहुत कुछ व्यवस्थित रूप पा चुका था। बुद्धवंस में सुमेध बोधिसत्त्व कोणागमन बुद्ध और उनके शिष्यों को चीनपट्ट भेंट देते हैं (पृ० ३८)। चीन देश का चीन नाम छिन् राजवंश के कारण हुआ है जिसका आरम्भ ई० पू० २५५ से होता है। चीन वस्तुतः छिन् का ही भारतीय उच्चारण है। चीन शब्द को वहां के वस्त्र के साथ भारत के भीतरी भागों में पहुँचते पहुँचते और भी कुछ देर लगी होगी और उसका बुद्धवंस की रचना में प्रवेश शायद और भी देर से हुआ होगा।

जो हो, आरम्भ में जातक किसी विशेष प्रकार के साहित्य का नाम न था प्रत्युत प्रवचन करते समय पुरातन जन्म की कथाओं के उपयोग का नाम ही जातक था। उन्हींके आधार पर जातकों और अवदानों की सृष्टि हुई है।

अद्भुत धर्म को खोलते हुए बुद्धघोष ने कहा है: भिक्षुओ, ये चार आश्चर्य अद्भुतधर्म आनन्द में हैं। इस क्रम से जितने भी आश्चर्य अद्भुत धर्मयुक्त सूत्र हैं, वे सभी अद्भुत धर्म हैं। वेदल्ल वर्ग के प्रवचन कैसे होते थे कुछ पता नहीं। विन्टरनित्ज़ का ख्याल है कि जिन प्रवचनों में प्रश्नोत्तर होते थे वे वेदल्ल कहलाते थे।

स्थविरों के हिसाब से प्रवचनों के यही नौ टाइप हैं। दूसरे हीनयान सम्प्रदायों में

भी कदाचित् यही होंगे। पर सर्वास्तिवादियों और महायानियों ने प्रवचनों के बारह टाइप ढूँढ़े हैं (अभिधर्म कोश, २३५)। धर्मसंग्रह में, जो महायान के ही धार्मिक शब्दों का संक्षिप्त कोष है, नौ ही प्रवचनों के टाइप गिनाए हैं पर वहां वेदल्ल नहीं है। वेदल्ल की जगह वैपुल्य है। वैपुल्य प्रवचनों का कौन-टाइप था पता नहीं। यदि वैपुल्यसूत्र (=महायानसूत्र) उस टाइप में माने जाए तो बात कुछ समझ में आ सकती है पर अभी तो उनकी गणना सूत्र टाइप के प्रवचनों में ही है। जहां तक ख्याल है विषय-भेद से एक ही प्रवचन दो प्रकार के टाइप के अन्तर्गत हो सकता है। वैपुल्यसूत्र सूत्रों के भी अन्तर्गत हो सकते हैं और वैपुल्य के भीतर भी। वैपुल्य के अतिरिक्त निदान, अवदान, और उपदेश—इन और तीन टाइपों का ज़िक्र किया गया है (महाव्युत्पत्ति LXII)। प्रवचन के उस भाग का नाम निदान है जिसमें किसीभी प्रवचन के पहले के पूर्वलक्षणों का ज़िक्र होता है। सद्धर्मपुण्डरीक का निदानपरिवर्त इसका सुन्दर उदाहरण है। प्रवचन से पूर्व बुद्ध की समाधि लग जाती है। उनके ऊर्णाकोश से एक किरण निकलती है और भवाग्र तक सब लोक-लोकान्तर प्रकाशित हो जाते हैं। इस ऋद्धि प्रातिहार्य को देख मैत्रेय बोधिसत्त्व मञ्जुश्री बोधिसत्त्व से पूछते हैं कि यह ऋद्धिप्रातिहार्य क्यों बुद्ध ने दिखाया। मञ्जुश्री उत्तर देते हैं कि आज भगवान् वैपुल्य सूत्रराज सद्धर्मपुण्डरीक का प्रवचन करने वाले हैं, उसीका यह पूर्वनिमित्त है। इस विशेष उदाहरण से यह समझा जा सकता है कि प्रवचनों में प्रवेश करानेवाला प्रस्तावना के जैसा पूर्वभाग निदान है। अवदान में जन्म कथाए, जीवनियां तथा धार्मिकों और पुण्यात्माओं के चरित गूथे होते हैं। अवदानों का एक बड़ा साहित्य हमारे बीच है उसमें यह बात बिलकुल स्पष्ट है। उपदेश के बारे में ठीक पता नहीं कि प्रवचनों का कौन-सा टाइप है। इसका तिब्बती अनुवाद बप्-पर-ब्स्तन्-प है। नसीहत शब्द से जो भाव आज प्रकट होता है शायद वही उपदेश का भाव है।

आज हमें जो बौद्ध साहित्य उपलब्ध है वह प्रवचनों के टाइपों के अनुसार संगृहीत नहीं है और हो भी नहीं सकता था। और यदि परिश्रम से इनके हिसाब से संग्रह किया जाता तो एक ही प्रवचन को जो एक समय में दिया गया वह अपने टाइपों के भेद से अनेक भागों में बँट जाता और उनकी कड़ी मिलानी भी कठिन हो जाती। गेय और गाथा-जैसे विभाग जिनका अलग से संग्रह हो सकता था, उनका भी संग्रह नहीं किया गया है। उदान, इत्युक्तक, और जातक एवं अवदानों का जो संग्रह हुआ भी है वह भी अपने आप में परिपूर्ण नहीं है। आज जो साहित्य उपलब्ध है वह तीन पिटकों में विभक्त होने से त्रिपिटक कहलाता है। पहला पिटक सूत्रपिटक है जिसमें धर्म विषयक उपदेश हैं। दूसरा विनय पिटक है जिसमें आचार-नियमों का वर्णन है। तीसरा अभिधर्म पिटक है जिसे दार्शनिक पिटक कहना चाहिए। असंग ने अभिधर्म की व्याख्या करते कहा है (महायान सूत्रालंकार ९।३) कि एक ही धर्म को अनेक भेदों में विस्तार के साथ कहा जाता है इसलिये "अभीक्ष्ण धर्मोऽभिधर्मः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसे अभिधर्म कहते हैं। अभिधर्म में दूसरे मत के वादों का खण्डन भी होता है इसलिये "अभिभवति [परप्रवादन्]" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसे अभिधर्म कहते हैं। सूत्रों का भाव अभिधर्म से खूब समझ में आ जाता है इसलिये "अभिगम्यते सूत्रार्थ एतेन" इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसे अभिधर्म कहते हैं। यह तीनों पिटक बौद्धों के सब सम्प्रदायों में होते थे। आज स्थविरवादियों के पालि

त्रिपिटक को छोड़कर किसी भी सम्प्रदाय का पूरा त्रिपिटक उपलब्ध नहीं है। सर्वास्तिवादियों के त्रिपिटक का कुछ खण्डित अंश प्राप्त है। महायानियों के कुछ सूत्र प्राप्त हैं पर पूरा त्रिपिटक उपलब्ध नहीं है। चीनी और तिब्बती अनुवादों में अवश्य बहुत-सा बौद्ध साहित्य छिपा है पर उसका अत्यल्प भाग ही प्रकाश में आ पाया है।

आरम्भ में किस तरह साहित्य विकसित हुआ होगा और किस तरह अनेक सम्प्रदाय बने होंगे, इस कहानी पर स्थविर-परम्परा थोड़ा बहुत प्रकाश डलती है। बौद्ध साहित्य के निर्माण में कितने ही सम्प्रदायों का हाथ रहा है। कितने व्यक्तियों ने साहित्य के संकलन सम्पादन एव निर्माण तथा परिवर्द्धन में भाग लिया होगा बौद्ध परम्परा उनके बारे में बहुत उदासीन है। फिर भी कुछ प्रमुख व्यक्तियों की ओर वह संकेत करती है। बुद्ध के जीवन में उन्हें अनेकों योग्य और विद्वान् शिष्य मिले उनमें शारिपुत्र, महाकाश्यप आनन्द, और उपालि के नाम बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। पालिपिटक मे अभिधर्म पिटक तो परम्परा के अनुसार शारिपुत्र का अनुप्रवचन माना जाता है। सूत्र पिटक में कितने ही शारिपुत्र के प्रवचन हैं जिनसे उनका दार्शनिक बुद्धि का पता बिना चले नहीं रहता। शारिपुत्र, बुद्ध के जीवन में ही इस संसार से उठ गए थे। बाकी तीनों बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद भी बहुत दिन तक जीवित रहे। बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद जब लोग शोकाकुल थे, बूढ़े समुद्र ने कहा था—'अब शोक मत करो, बुद्ध चले गए सो अब आज़ादी ही आज़ादी है। जैसी मरज़ी होगी अब करेंगे। कोई कहनेवाला नहीं कि तुम्हें यह करना चाहिए, यह न करना चाहिए'। इस तरह की बातों से बुद्ध के नैष्ठिक शिष्यों को बड़ा धक्का लगा। उन्होंने सोचा जब धर्मसंघ में इस तरह उद्दण्ड विचारवाले हैं तब आगे पता नहीं क्या होगा। इस ख्याल से बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट **धर्म तथा विनय** का संगायन करना ठीक समझा। महाकाश्यप की अध्यक्षता में पाच सौ वीतराग बुद्ध के शिष्य राजगृह में वेभार पर्वत की सप्तपर्णी गुहा में एकत्रित हुए। आनन्द बुद्ध के साथ छाया की भांति अन्तरङ्ग रहे थे। सो धर्म के प्रवचनों का उनको प्रधानता में उन भिक्षुओं ने पाठ किया जिन्हें स्मृत थे, और उनपर आनन्द की गवाही होने से वे पक्के हो गए। धर्म के कौन कौन प्रवचन उस समय पाठ किए गए इसका आज हमारे पास कोई ब्यारा नहीं है, पर सूत्रपिटक में जो कुछ है वह सब उस संगीति में नहीं पढ़ा गया था। उसका अधिकांश बाद में स्थविरों की परम्परा में ही विकसित हुआ है। उपालि की प्रधानता में विनय या भिक्षुओं के आचार नियमों का पाठ किया गया। यह ठीक भी था क्योंकि पिटक से पता चलता है कि बुद्ध के समय में ही उपालि सर्वश्रेष्ठ विनयधर माने जाने लगे थे। प्राचीन धर्म का प्रतिनिधित्व आज का सूत्रपिटक करता है तथा विनय का विनय पिटक। यद्यपि इनमें परवर्ती अंश भी बहुत हैं पर प्राचीन अंश भी भरे पड़े हैं। सुत्तनिपात के सूत्रों में भाषा की प्राचीनता आज भी उन्हें सबसे प्राचीन बतलाती है। सूत्रों में बिखरे हुए बुद्ध के उदान भी परम पुरातन हैं। धम्मपद तथा कितनी ही और गाथाएं भी उसी तरह पुरानी हैं। पर इनमें नये अंश भी बहुत मिल गए हैं जिनकी छानबीन करना बहुत कठिन है क्योंकि एक ही सूत्र में कितने ही अंश नए हैं, कितने ही बहुत पुराने हैं। राहुल सांकृत्यायन ने पुराने और नए अंशों की सामान्यतया पड़ताल करने को एक सरल तरकीब बतलाई है। उनके ख्याल से सूत्रों में चमत्कारों और बुद्ध के लोकोत्तर प्रभाव की चर्चा कम है, विनय में उससे अधिक है,

अट्ठ-कथाओं में सबसे अधिक है, फलतः इनको इसी क्रम से प्रमाण मानना चाहिए (विनयपिटक की भूमिका)। सचमुच चमत्कारिक और लोकोत्तर चर्चा बाद में धीरे धीरे मिलाई गई है और कहीं पर तो मिलाते हुए वह इतनी असम्बद्ध हो गई है कि मिलावट का पता चल ही जाता है। विन्टरनित्ज़ ने महापरिनिर्वाण सूत्र में इस तरह की मिलावट को ढूंढा है (इंडियन लिटरेचर II P 38-41)। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में बुद्ध बीमार थे। आनन्द बहुत कुछ घबरा गए थे पर बुद्ध की हालत उस बार कुछ सुधर गई। तब आनन्द ने बुद्ध से कहा भन्ते, आपकी बीमारी से मुझे धर्म-कर्म सभी भूल गया था। खाली इतना भरोसा ज़रूर था कि जब तक भगवान् भिक्षु संघ से कुछ कह न लेंगे तब तक शरीर न छोड़ेंगे। बुद्ध ने इस बात को सुनकर कहा· आनन्द भिक्षुसंघ मुझसे और क्या चाहता है। तथागत ने धर्म की कोई बात अपनी मुट्ठी में नहीं छिपा रक्खी है। मैं अब बहुत बूढ़ा हो गया हूं, अस्सी की उमर है। जैसे पुरानी गाड़ी को बाँधबूँध कर चलाया जाता है उसी तरह मेरा शरीर चल रहा है। इसलिये दूसरे की शरण न खोज अपनी शरण खोजो, धर्म की शरण खोजो। इस अंश के बाद ही आगे चलकर बात बदल दी गई है और तथागत के मुंह से कहलवाया गया है आनन्द, तथागत चाहें तो कल्प भर तक ठहर सकते हैं। दोनों अंशों को देखते ही जान पड़ता है कि उनमें परस्पर विरोध है। पर उस पुराने समय में जब कि महात्माओं की लोकोत्तर शक्ति पर भरोसा किया जाता था इस तरह के विरोध की ओर ध्यान नहीं जा सकता था और यदि ध्यान गया होता तो इस तरह की परस्पर विरोधी बातें एक ही जगह आगे पीछे न रख दी जातीं। एक ओर तथागत कहते हैं कि मेरा शरीर जर्जर गाड़ी-जैसा है जो कभी भी टूट सकता है और दूसरी ओर तथागत स्वयं कहते हैं कि वे चाहें तो कल्प भर ठहर सकते हैं। यह विरोध स्पष्ट बतलाता है कि एक अंश पहले का है, दूसरा बाद का। जब एक सूत्र के भीतर पुराने और नये अंशों का यह हाल है तब सारे त्रिपिटक की बात का कहना ही क्या! इस पहली संगीति में अभिधर्म के संगायन की बात नहीं है। इसके बाद के सौ वर्षों में कितने परिवर्तन हुए होंगे ठीक पता नहीं पर एक बात बहुत साफ़ है कि विनय के नियमों की अवहेलना होनी शुरू हो गई थी। वैशाली के भिक्षु धन दौलत भी बटोरने लगे थे तथा और भी कितनी ही बातें करने लगे थे जिनको पुराने समय के भिक्षु नहीं करते थे। इन सब दोषों को दूर करने के लिये वैशाली में सात सौ भिक्षु एकत्रित हुए। संगीति में ही वैशाली के भिक्षुओं का बहिष्कार हुआ और उन्होंने कौशाम्बी जाकर एक बड़ी जमात बना अपने मन्तव्य के अनुसार धर्म और विनय का संगायन किया, तब से दो सम्प्रदाय हो गए। एक बूढ़ों का या पुराने ढर्रे वालों का जो स्थविरवादी कहलाए तथा दूसरे नए ढर्रेवाले जिनकी जमात शायद पुराने ढर्रेवालों से बहुत बड़ी थी इसलिये महासांघिक कहलाए। पहली संगीति में जिन्होंने नेतृत्व का काम किया उनमें महाकाश्यप, आनन्द और उपालि प्रधान थे। इसमें यश, सम्भूत शाणवासी या शाणवास, सर्वकामी, और रेवत प्रधान थे। अशोकावदान में बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद की दो शताब्दियों से कुछ अधिक समय के भीतर तीन आचार्यों के होने का ज़िक्र है—

बुद्ध महाकाश्यप आनन्द

|

शाणवास (बुद्ध के परिनिर्वाण के एक शती बाद)

|

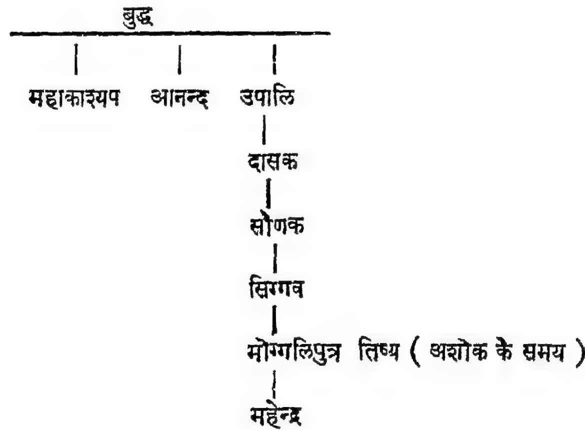
उपगुप्त (बुद्ध के परिनिर्वाण के दो शती बाद, अशोक के समय)

|

धीतिक

राहुल सांकृत्यायन इस परम्परा को बहुत सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। दो सौ से ऊपर, लगभग ढाई सौ बरसों के भीतर आनन्द, शाणवास, और उपगुप्त सिर्फ तीन हो जने, यह बात बहुत सन्देह में डालने वाली है। जो भी हो, स्थविरों के हिसाब से सम्भूत शाणवासी को द्वितीयसंगीति में मुख्यरूप से भाग लेते हुए देखते हैं फलत उनका यह समय दोनों के हिसाब से निश्चित है।

इस तरह द्वितीय संगीति तक एक शताब्दी के भीतर जो कुछ गड़बड़े हुईं उससे बौद्धों में दो भेद हो गए—स्थविरवादी और महासांघिक। बाद को एक शताब्दी से कुछ ऊपर के समय में भेद बढ़ते बढ़ते अठारह हो गए। इस समय तक स्थविरों की आचार्य-परम्परा यों है—



दूसरी संगीति से तीसरी संगीति के बीच लगभग सौ बरस से ऊपर के समय में अभिधर्म की बहुत कुछ रूपरेखा पक्की हो गई थी फिर भी यह कहना कठिन है कि अभिधर्म का कितना साहित्य तैयार हुआ था। आज अभिधर्म के जो ग्रन्थ हैं उनमें मोग्गलिपुत्र तिष्य का एक ग्रन्थ कथावस्तु भी है। परम्परा के अनुसार मोग्गलिपुत्र तिष्य ने बौद्धधर्म के भीतर अनेकों सम्प्रदाय बढ़ जाने से उनका शोधन करने के लिये तीसरी संगीति में, जो पाटलिपुत्र (पटना) के अशोकाराम में हुई, कथावस्तु की रचना की। आज कथावस्तु जिस रूप में प्राप्त है, उसमें सिर्फ अठारह निकायों के ही सिद्धान्तों का खण्डन नहीं, प्रत्युत और भी कितने निकायों का खण्डन है।

कथावस्तु में खण्डित प्राचीन अठारह निकाय कैसे विकसित हुए? महावंश (पंचम

परिच्छेद) में उनका ब्योरा यों है : प्रथम शताब्दी में केवल एक स्थविरवाद ही था, अन्य आचार्यवाद पीछे पैदा हुए। दूसरी संगीति करनेवाले स्थविरों द्वारा मर्दन किए गए उन भिक्षुओं ने महासांघिक नामक आचार्यवाद की स्थापना की। फिर उससे गोकुलिक और एकव्यावहारिक पैदा हुए। गोकुलिकों से प्रज्ञप्तिवादी तथा बाहुलिक और उन्हींसे चैत्यवादी। महासांघिकों के सहित यह छः हुए।

फिर स्थविरवाद ही में से महीशासक और वात्सीपुत्रीय यह दो सम्प्रदाय हुए। वात्सीपुत्रीयों से धर्मोत्तरीय भद्रयानिक, षण्णागारिक, और सम्मितीय हुए। महीशासकों में से सर्वास्तिवाद और धर्मगुप्तिक यह दो सम्प्रदाय हुए। सर्वास्तिवाद से काश्यपीय, उनसे सांक्रान्तिक, और उनसे सूत्रवादी हुए। अन्य सब सम्प्रदाय पीछे हुए। कथावस्तु की अट्ठकथा में इसी तरह इनका उल्लेख है।

आज जिस रूप में कथावस्तु उपलब्ध है उसमें उपरोक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त जिन अन्य सम्प्रदायों का खण्डन है, वे हैं—अन्धक, अपरशैलीय, पूर्वशैलीय, राजगिरिक, सिद्धार्थक, वेतुल्ल (वैपुल्य) उत्तरापथक और हेतुवादी। इनमें वैपुल्य प्राचीन महायान का ही रूप है। अट्ठकथा ने वैपुल्य को महाशून्यतावादी कहा है। शून्यवाद महायान का ही दार्शनिक सिद्धान्त है। इससे वैपुल्य के महायान होने में सन्देह नहीं रहता। यह महायान निश्चित रूप से नागार्जुन से पूर्व का है क्योंकि टीकाकार ने भले ही वैपुल्य को शून्यतावादी कहा पर मूल कथावस्तु में इस बात की ओर संकेत नहीं है। इससे जान पड़ता है कि शून्यवाद का सिद्धान्त उसमें बाद में प्रविष्ट हुआ। ई० पू० पहली शती में यह सिंहल पहुँचा जिससे साफ़ है कि वह भारत में बद्धमूल हो चुका था। निकायसंग्रह से पता चलता है कि वैपुल्यवादियों ने वैपुल्यपिटक, अन्धकों ने रत्नकूट, सिद्धार्थकों ने गूढ़ वस्सन्तर, राजगिरिकों ने अंगुलिमालपिटक (? अंगुलिमालसूत्र नन्ज्यो ४३४), पूर्वशैलीयों ने राष्ट्रपालगर्जित (? राष्ट्रपाल परिपृच्छा नन्ज्यो ८७३) की रचना की। आज यह सब सूत्र महायान सूत्र ही कहलाते हैं। सो महायान इन सम्प्रदायों के एकीकरण का ही नाम जान पड़ता है।

पूर्व शैल और अपर शैल आन्ध्रदेश में धान्यकटक के पूर्वी और पश्चिमी पर्वत हैं जिनके नाम से पूर्वशैलीय और अपर शैलीय नाम पड़े। अन्धक निकाय का नाम तो आन्ध्रदेश के नाम पर ही है। राजगिरिक और सिद्धार्थक भी आन्ध्रदेश के ही सम्प्रदाय रहे होंगे। इससे जान पड़ता है कि आन्ध्रदेश में ही, विशेषरूप से धान्यकटक में, महायान का विकास हुआ और यहीं उसके साहित्य की भी नींव पड़ी। बाद में सम्पूर्ण भारतवर्ष ने इसमें साथ दिया। इन आन्ध्रदेश के सम्प्रदायों का विकास महासांघिक से हुआ। आन्ध्रदेश के धान्यकटक में जो स्तूप था उसे महाचैत्य कहते थे। उसका उल्लेख मञ्जुश्री मूलकल्प के दसवें पटल में यों है

श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणपथसञ्ज्ञके।
श्रीधान्यकटके चैत्ये जिन धातुधरेभुवि॥

इस चैत्य के नाम से वहाँवाले चैत्यवादी कहे जाते थे जो कि महासांघिकों के भीतर के ही हैं। जिस देश में चैत्यवादी थे, वहीं पर बाद में विकसित दूसरे सम्प्रदायों के विकास में आने से

पूर्ववर्ती चैत्यवाद से अप्रभावित रहना सम्भव ही कैसे हो सकता था। इस तरह महायान की प्रतिष्ठा बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद की पचशती के अन्तिम छोर तक पूरी हो जाती है और उसका विकास सारे भारत में नहीं भारत से बाहर भी होता है। दूसरे सम्प्रदाय भी भारत में तथा बाहर फलते रहे। उनके भी विकास और ह्रास की कहानी, जो आज अन्धकार में है, कम रोचक न रही होगी।

बुद्ध स्वयं मध्यदेश अर्थात् बिहार और संयुक्त प्रान्त के भीतर ही घूम घूम कर प्रचार करते रहे पर उनके समय में ही उनके शिष्य मध्यदेश की सीमा पार कर चुके थे। विनयपिटक में कितने ही आचार-नियम मध्यदेश के बाहर के देशों को ख्याल में रखकर बनाए गए हैं।

बुद्ध के बाद अशोक के समय में बौद्ध धर्म और भी दूर दूर पहुँचा। मोग्गलिपुत्र तिष्य ने काश्मीर और गन्धार में माध्यन्तिक, महिषमण्डल (नर्मदा के दक्षिण, आधुनिक खानदेश) में महादेव, बनवास (वर्तमान मैसूर के उत्तरी भाग) में रक्षित, अपरान्त (समुद्रतट पर बम्बई से सूरत तक के प्रदेश में) योन (? जवान, युवा) धर्मरक्षित, महाराष्ट्र (=स्याम ? संभवतः आज का मरहट्ट देश) मे महाधर्मरक्षित, यवन (यूनान्) में महारक्षित, हिमवन्त में मध्यम, स्वर्णभूमि [ब्रह्मा] में शोण और उत्तर, तथा लंका में महेन्द्र, इट्टीय, उत्तीय, सम्बल और भद्रशाल स्थविरों को भेजा। संघमित्रा भी बाद में लंका गई।

स्थविर लोग इस तरह दूर दूर गए और उनका स्थविरवाद भी दूर दूर तक गया पर वह लंका, ब्रह्मा, और स्याम को छोड़कर कहीं भी बद्धमूल न हो पाया। तीसरी संगीति में मोग्गलिपुत्र तिष्य ने जिनका बहिष्कार किया था उन्होंने नालन्दा में अपना डेरा डाला। नालन्दा की सत्ता बारहवीं शती के अन्त तक रही। नालन्दा अन्त तक सर्वास्तिवादियों का केन्द्र रहा। खाली सर्वास्तिवाद का ही नहीं महायान का भी। दोनों साथ रहे और दोनों में कितने ही विद्वान हुए जिनकी चर्चा हम आगे करेंगे।

स्थविर लोग जिस तरह धर्म प्रचार के लिये बाहर गए उसी तरह दूसरे सम्प्रदाय भी गए होंगे और उन्होंने भी धर्म प्रचार किया होगा। जहां जहां स्थविर पहुँचे होंगे वहां वहां दूसरे भी जरूर गए होंगे तथा जहां जहां स्थविर नहीं गए होंगे वहां भी कितने ही लोग पहुँचे होंगे। आज उन सबके ग्रन्थ लुप्तप्राय होने से कुछ कहा नहीं जा सकता कि वे किस तरह बाहर गए होंगे। तारानाथ ने अपने इतिहास में सर्वास्तिवादियों के धर्म प्रचार का ज़िक्र किया है: उपगुप्त (अशोक समकालीन) ने मथुरा में धीतिक को दीक्षा दी। धीतिक उज्जयिनी के रहनेवाले थे। धीतिक ने तुखार के राजा मीनार को दीक्षित किया। मीनार और उसके पुत्र इम्हस ने बौद्ध धर्म को बहुत सहायता दी। शिफ़नर का ख्याल है मीनार, मेनान्डर (Menander) और उसका पुत्र इम्हस ही हरमेओस (Hermaios) है। इनके शिष्य धीतिक ने कामरूप में धनी ब्राह्मण सिद्ध और विदिशा या मलाया में अदर्प को दीक्षित कर वहां बौध धर्म की जड़े जमाई तथा उज्जयिनी में उन्होंने कृष्ण या काल को दीक्षा दी। कृष्ण के शिष्य सुदर्शन हुए जो भरुकच्छ के थे। पोबध भी बाद में कृष्ण के अनुवर्ती हुए। कृष्ण और सुदर्शन ने सिन्धु और काश्मीर में धर्म-प्रचार किया। कृष्ण ने दक्षिण भारत और लंकाद्वीप तथा दूसरे द्वीपों में भी धर्म फैलाया। पोबध ने उत्कल (उड़ीसा) में धर्म प्रचार किया।

धर्म प्रचार की यह कहानी अशोक काल के आस पास की है। बाद में धर्म प्रचार का कार्य किस तरह चलता रहा ठीक नहीं। अशोक के बाद, डेढ़ शताब्दी ई० पू० के आसपास स्थविरवादी नागसेन की यूनानी राजा मिलिन्द (मीनान्डर) से सागल (स्यालकोट, पंजाब) में धर्म चर्चा का पूरा पूरा वर्णन है। मिलिन्द बौद्ध धर्म का अनुयायी हो जाता है। मिलिन्द ही नहीं अनेकों यूनानी बौद्ध धर्म की ओर खिंचते हैं। सचमुच उस युग में बौद्ध धर्म ही था जो बिना संकोच के विदेशियों को अपना लेता था।

इसके बाद बौद्ध धर्म का प्रचार जिस तरह चलता रहा, हमे बहुत कुछ चीन देश के ग्रन्थों से पता चलता है। चीन में बौद्ध धर्म कैसे पहुँचा और कब पहुँचा ? इसके बारे में अनेकों दन्तकथाएं हैं। उन दन्तकथाओं को सुलझाने का अभी बहुत थोड़ा जतन हुआ है। ख्याल है कि बौद्ध धर्म चीन में ई० पहली शती में पहुँचा। मध्य एशिया में वह इससे पहले ही पहुँचा। चीन में धर्म प्रचारक मध्य एशिया, काश्मीर तथा भारत के दूसरे भागों से ग्यारहवीं शताब्दी के प्रथम पाद तक जाते रहे। जाते ही नहीं, चीन से भी लोग धर्म जिज्ञासा के भाव से भारत आते रहे। भारत से चीन जाने वालों में कुमारजीव तथा चीन से भारत आने वालों में श्यूआन्-चुआङ् ने चीनी भाषा को जो कुछ दिया वह बहुत ही मूल्यवान रहा है। बौद्ध ग्रन्थों के जितने अनुवाद हुए उनमें भाषा और भाव की दृष्टि से दोनों का अनन्य स्थान है। इनके अनुवाद बहुत ही टकसाली और प्रामाणिक हुए हैं। श्यूआन-चुआङ् के अनुवाद मूलके काफ़ी नज़दीक हैं। कुमारजीव के अनुवाद भी मूल से दूर नहीं हैं पर वे भावानुवाद हैं अक्षरानुवाद नहीं। बात यह है कि कुमार जीव ने जिस पद्यगन्धि भाषा में अनुवाद किया है उसमें अक्षरानुवाद सम्भव ही न था। कुमारजीव के अनुवादों का अपना स्थान है, उनकी शैली का अनुकरण बाद में किसीसे करते न बना। चीनी में यद्यपि हीनयान और महायान दोनों प्रकार के ग्रन्थों के अनुवाद हुए पर चीन में धर्म का रूप महायान ही रहा, जिससे बहुत स्पष्ट है कि वहाँ जानेवाले धर्म प्रचारक महायान का ही प्रचार करते थे।

इस तरह चीन में बौद्ध धर्म ईसा की पहली शती में पहुँचा तथा खूब फला फूला। ३७२ ई० में कोरिया में, और ५३८ ई० में जापान में भी स्थापित हुआ। पास पड़ोस के तिब्बत में वह बहुत देर से पहुँचा और शुरू शुरू में उसके पहुँचने की कहानी भी बड़ी रोचक है। नेपाल के राजा अंशुवर्मा की कन्या ५८० ई० में तथा चीनराज की कन्या कोङ्ज़ो ५८१ ई० में ल्हासा गईं। इन दोनों का विवाह तिब्बत के राजा ह्नि-चुन् (= खि-चुन्) के साथ हुआ (तिब्बत में बौद्ध धर्म)। यह दोनों राज कन्याएं अपने साथ बौद्ध प्रतिमाएं लाई थीं और इन्हीं के द्वारा पहले पहल बौद्ध धर्म का पता तिब्बत को चला। तिब्बती भाषा लिखने की उस समय कोई लिपि न थी। उस राजा ने थोन्-मि-अनु-सम्भोट को भारत में लिपि सीखने भेजा। थोन्-मि ने लिपि सीखकर तिब्बती भाषा का व्याकरण बनाया और इस योग्य किया कि वह लिखने के काम आ सके।

तिब्बत में इस तरह बौद्ध धर्म का प्रवेश होते हुए भी बौद्ध धर्म की प्रतिष्ठा बहुत बाद में हुई। नालन्दा के प्रसिद्ध विद्वान् शान्तरक्षित ने पहले पहल तिब्बत में धर्म की प्रतिष्ठा की। इन्होंने सम्-यस् (= ब्सम्-यस्) विहार की प्रतिष्ठा करवाई और ७६७ ई० में सात भाटकुलपुत्रों

को भिक्षु बनाकर भिक्षु सघ की स्थापना की। इन्हींके अनुगामी भिक्षुओं में पद्मसम्भव को भोट में बड़ी ख्याति है। राहुल जी के शब्दों में इनका भोट में बुद्ध से भी अधिक आदर है। यों धर्म की प्रतिष्ठा होने पर भारत से पचासों विद्वान् गए जिनकी सहायता से बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद हुआ।

बौद्धधर्म में महायान का प्राणभूत सिद्धान्त प्राणिहित करना और तदर्थ सब कुछ निछावर कर देना है। इस सिद्धान्त ने वहाँ के राजा मु-नि-ब_चन्-पो (७८५-८६ ई०) पर बहुत प्रभाव पड़ा। अपने उन्नीस महीने के शासनकाल में तीन बार धन का समवितरण किया। सुनने में यह पागलपन ज़रूर लगेगा पर उस पागलपन के पीछे जो पवित्र आदर्श है उससे इनकार नहीं किया जा सकता। और इसी पागलपन के कारण अन्त में अपनी मा के द्वारा विष दिए जाने पर इस बोधिसत्वकल्प राजा का शरीरपात हुआ।

तिब्बत मे बौद्धधर्म अनेक उतार चढाव के साथ अपनी सत्ता जमाए रहा। १०४२ ई० में विक्रमशिला (विहार) के प्रसिद्ध विद्वान् दीपकर श्रीज्ञान तिब्बत गए। इन्होंने शान्तरक्षित के बाद तिब्बत के बौद्धधर्म में उत्पन्न कुरीतियों को दूर करने का बड़ा यत्न किया। तिब्बत जो लोग गए उनकी सख्या बहुत बड़ी है। बड़े बड़े पण्डित तथा बड़े ही मस्तमौला लोग भी वहाँ पहुँचे। दीपकर श्रीज्ञान जिस शती में तिब्बत गए उसीमें एक पडित स्मृतिज्ञानकीर्ति भी गए। यह तिब्बत पहुँच भी न पाए थे कि इनका दुभाषिया रास्ते में मर गया। इनके एक साथी ने तो कुछ आश्रय ढूढ़ लिया पर इन्होंने इस बात को फिजूल समझा। और खानाबदोश की तरह तम्बुओं में रहनेवाले भोटियों में से किसीके यहा चरवाही करने लगे। जानवरों को खूब अच्छी तरह चराते। मालिक को तो खुश रखते ही पर मालकिन का खूब ख्याल रखते। और तो और दूध दुहते हुए एक बार मालकिन को बैठने के लिये कुछ ऊंची चीज़ की ज़रूरत पड़ी, उसने इनसे फरमायश की कि तुम ज़रा पीठ के बल पड़ रहो तो मै दूध दुहूँ। फिर क्या था अपनी मालकिन का मन रख ही तो लिया !

इस तरह बौद्धधर्म का प्रचार होते होते जो सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु पैदा हुई वह उसका साहित्य है। यह साहित्य दो तरह का है। एक तो साम्प्रदायिक साहित्य जिसे हम सामान्यतया त्रिपिटक कहते हैं। प्रत्येक सम्प्रदाय का अलग अलग त्रिपिटक था। स्थविरवादियों के पालि-पिटक तथा सर्वास्तिवादियों के खण्डित सस्कृतपिटक और सस्कृत में कितने ही महायान सूत्रों को छोड़कर बहुत सी सामग्री तिब्बती और चीनी अनुवादों में ही छिपी हुई है। इस साम्प्रदायिक साहित्य में एक व्यक्ति का हाथ नहीं था पर एक एक समूह का हाथ था। सामूहिक रूप से लोग उस समय लोक और परलोक के बारे में जिस तरह सोचते थे, उसका प्रतिबिम्ब इस साहित्य में है। लोक के विषय में यह साहित्य जो सूचनाएं देता है वह बड़ा ही मूल्यवान है, दूसरे प्रकार का जो साहित्य है वह है उन उन सम्प्रदाय के विशेष विशेष व्यक्तियों की अपनी रचना। अलग अलग व्यक्तियों की रचना होने के कारण इस साहित्य से दो बातों का पता चलता है। एक तो यह कि उस समय की दुनिया में साधारणतया जन समूह की चिन्ता और विचारों का क्या रूप था। दूसरा यह कि उन उन विशेष व्यक्तियों ने उस चिन्ता या विचारधारा को आगे बढ़ाने में मदद दी या पीछे लौटाने में अपनी मेहनत बरबाद की। साहित्य के निर्माताओं

में जिनकी रचनए पालिभाषा में हैं उनमे मोग्गलिपुत्र तिष्य, नागसेन, बुद्धघोष, अनुरुद्ध, महानाम के नाम और कृतियों की बीच बीच मे याद करनी पड़ेगी। जिनकी रचनाएं सस्कृत में हैं उनमें अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव, असग, वसुबन्धु, दिग्नाग, धर्मकीर्ति, चन्द्रकीर्ति, शान्तिदेव, शान्तरक्षित और कमलशील के नामों और रचनाओं से हमें बहुत काम पड़ेगा क्योंकि अश्वघोष को छोड़कर यह सबके सब महायान के ही लेखक हैं और हमें आगे महायान की ही चर्चा करनी है।

अश्वघोष कविता के बहाने ललित रूप मे धर्म की घूट पिलाने में बहुत सफल रहे हैं। उन्होंने कहा है . मैंने मोक्ष के भावों से भरी हुई यह रचना कविता के बाने में इसलिये की कि जिनका मन मोक्ष से और ही जगह रहता है वे भी इसमें रम सके। यह (दुनिया में) रमाने के लिए नहीं, दुनिया (के भम्फट) से शान्ति दिलाने के लिये है। यह काव्य है इसलिये इसमें कुछ दूसरी (श्रृगारादि) बातें भी हैं जो मोक्ष से बिल्कुल अलग की बाते हैं और वे (मोक्ष जैसी कड़ुई बात को) उस तरह मीठी बनाने के लिये हैं जैसे पीने को कड़ुई दवा में शहद मिला देते हैं।—

> इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृति·
> श्रोतॄणा ग्रहणार्थ मन्यमनसां काव्योपचारात् कृता।
> यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत् काव्यधर्मात् कृत
> पातु तिक्तमिवौषधं मधुयुत हृय कथं स्यादिति ॥—सौन्दरानन्द १८।६४

अश्वघोष के बुद्धचरित और सौन्दरानन्द काव्यों में बौद्धधर्म का जो रूप है वह बिल्कुल ही महायान का न होकर हीनयान का है और यही दो कृतियां अश्वघोष की प्राणभूत हैं। इनमें हीनयान का ही भाव सब जगह देखकर अश्वघोष को महायानी कहने की शायद ज़रूरत नहीं। अश्वघोष के नाम पर कुछ महायान से सबन्ध रखनेवाली रचनाए भी मिलती हैं। यह किसी दूसरे अश्वघोष की हैं। कदाचित् नाम की एकता के कारण दोनों को एक समझ लिया गया है।

आगम की चर्चा करते करते हम इतनी दूर आ गए। आगमों में विशेषकर महायान आगम—महायानियों के साम्प्रदायिक साहित्य तथा महायान के आचार्यों की, जिनके नामों को अभी याद किया है, कृतियों के सहारे अधिगम या उस साहित्य की भीतरी प्रवृत्तियों और भावनाओं को आगे चलकर हम देखने का जतन करेंगे। दूसरे आगमों में भी जो महायान की सामग्री है उसका भी निःसकोचभाव से उपयोग होगा। स्थविरों के त्रिपिटक में बुद्धवंश, चरियापिटक, अपदान, जातक, तथा लोकोत्तरवादियों के महावस्तुअवदान में महायान की कहीं साफ़ और धुंधली छाया है। यह सब हीनयान को महायान से वड़ी मिलानेवाली रचनाए हैं। इनसे भी जहां ज़रूरत पड़ेगी हम कितनी ही बाते लेकर देखेंगे।

महायान

लेखक
भदन्त शान्तिभिक्षु

१—बौद्धधर्म में तीन यान

क—साधारण सिद्धान्त

उपनिषद् के ऋषियों ने ज्ञान को मोक्ष का उपाय बताया है। 'उसको' जानने से ही मुक्ति हो सकती है। और 'वह' कौन? वह समस्त ज्ञात पदार्थों से भिन्न है, समस्त दृश्यमान प्रकाश उसीके प्रकाश से प्रकाशित हैं। और इसी लिये आत्म-विह्वल होकर किसी ऋषि ने गाया है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभान्ति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

उस चमक के आगे सूरज, चाँद, तारे, और यह बिजलियां जब फीकी हैं तब आग की औक़ात ही क्या? इन सब चमकनेवाले में उसकी चमक की झलक है, उसीकी चमक से यह सब चमक रहे हैं।

इस तरह की चमक के पीछे भूले रहनेवाले कितने ही ब्राह्मणों से बुद्ध की बातचीत हुई थी और बुद्ध इससे अपरिचित न थे पर उनका रास्ता लोगों को उस चमक के पीछे हैरान होने की बात नहीं बताता। बुद्ध ने सब की सुनी है पर माना वही है जो उन्हें जँचा है। बुद्ध चाहते थे लोग बहुश्रुत हों—सब तरह की बातों को सुने और जाने। थोड़ी जानकारी रखनेवाले के लिये उन्होंने कुछ कड़े शब्द का उपयोग किया है—

अप्पस्सुतायं पुरिसो बलिवद्दोव जीरति।
मंसानि तस्स वड्ढन्ति पञ्ञा तस्स न वड्ढति॥

अल्पश्रुत—थोड़ा जाननेवाला—बैल की तरह ही बुढ़ा जाता है। उसका मांस तो बढ़ता है पर बुद्धि नहीं बढ़ती।

बुद्धिवादी के लिये बहुश्रुत होना बहुत ज़रूरी है पर तरह तरह की जानकारी इकट्ठा करने से ही काम नहीं चलता। अपने आपको बनाने के लिये कितनी ही बातें जीवन में ढालनी पड़ती हैं। जीवन में अभ्यास करने की उन बातों को बोधिपाक्षिकधर्म कहा जाता है।

'बोधि' एक प्रकार का ज्ञान है पर यह ज्ञान न तो दुनिया का ही ज्ञान है और न दुनिया

से परे किसी ब्रह्म आदि का ज्ञान है। साधारणतया दुनिया का जो ज्ञान है उसे 'सांवृतज्ञान' या व्यावहारिक ज्ञान कहा जाता है। पर बोधि वह ज्ञान नहीं है क्योंकि वह दुनिया के साधारण व्यवहार में चालू नहीं है। वह दुनिया से परे का भी ज्ञान नहीं है क्योंकि उस ज्ञान का विषय दुनिया ही है। दुनिया से परे न जाकर—लोक से कहीं दूर न भागकर, दुनिया या लोक को एक खास तरह से समझना ही 'बोधि' है—बूझ है। बोधि को बहुत से संकेतों द्वारा कहा गया है। उन संकेतों को ध्यान से देखने पर बोधि का स्वरूप बहुत कुछ खुल जाता है। दो तरह के ज्ञान को बोधि कहा गया है : क्षय ज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान (अभिधर्मकोष)। यह दोनों शब्द बहुत-कुछ निषेधात्मक अर्थ बताते हैं। क्षय या नाश करना निषेध ही का नाम है। पर किसका क्षय ? क्षय की जानेवाली चीज़ें बहुत गिनी चुनी हैं पर उनको बहुत से संकेतों द्वारा कहा है। यहां संकेतों के झंझट में पहले न पड़ उन चीज़ों की देख-भाल कर लेनी चाहिए। कुल छः चीज़ ही हैं जिन्हें क्षय करने को कहा गया है—

(१) राग—इस संसार में मनुष्य की जो तृष्णा है उसे राग कहते हैं। कामधातु के भीतर जितने लोक-लोकान्तर हैं उनके प्रति तृष्णा ही काम राग है। रूप धातु और अरूप धातु के प्रति जो तृष्णा है उसे भवराग कहते हैं। सरल शब्दों में कहें तो इस दुनिया के प्रति और इस दुनिया से बढ़कर किसी दूसरी आनन्द की दुनिया, स्वर्ग या मोक्ष या ब्रह्म से मिलन कर आनन्द भोगने की चाह सब कुछ राग है।

(२) प्रतिघ = द्वेष।

(३) मान—अपने आपको ऊँचा समझना। दूसरे शब्दों में कहें तो दूसरे को छोटा समझना।

(४) अविद्या—विद्या के अभाव का नाम अविद्या नहीं है किन्तु अविद्या और विद्या परस्पर विरोधी दो वस्तुओं का नाम है जैसे कि मित्र और शत्रु दो परस्पर विरोधी बातें है, न मित्र का अभाव शत्रु है और न शत्रु का अभाव मित्र (अभिधर्म कोष ३।२८)। जिससे सभी बुराइयां उत्पन्न होती हैं, जो सभी बुराइयों का बीज है वह अविद्या है। ज़रा भावात्मक ढंग से कहना हो तो 'मोह' शब्द से अविद्या के भाव को कहा जा सकता है। पर इतनी ही काफ़ी नहीं है, इतने से अविद्या का पूरा भाव नहीं आता। वसुबन्धु ने "पूर्वक्लेशदशाविद्या" कहा है। अविद्या क्लेशों की उस दशा का नाम है जो कि पुरखले जन्म से हमारे पास आई है। इस व्याख्या से उन सबको सन्तोष हो सकता है जो पूर्व जन्म को मानते हैं। पर वह अविद्या है क्या ? यह बात परदे में ही छिपी रह जाती है। जो कुछ भी हो, वह अभावरूपा नहीं है। यदि अभावरूपा होती तो उसके क्षय की बात ही नहीं उठती।

(५) दृष्टि—किसी विशेष प्रकार की धारणा बना लेना दृष्टि है। बौद्ध ग्रन्थों में पांच प्रचार की दृष्टियों का वर्णन मिलता है—

क—सत्कायदृष्टि='मैं हू' 'मेरा है' की दृष्टि।

ख—अन्तग्राह दृष्टि=नित्य या ध्रुव तथा उच्छेद या नाश की दृष्टि। किसी पदार्थ को नित्य-ध्रुव-अपरिवर्तनशील मानना अथवा सर्वथा नाश होनेवाला मानना, ये दो अन्त या किनारों को जो पकड़े रहते है, उनकी ऐसी दृष्टि 'अन्तग्राह'-दृष्टि कहलाती है।

ग—मिथ्यादृष्टि—पुण्य और पाप के फल को न मानना।

घ—दृष्टिपरामर्श—मेरा मत या सिद्धान्त सत्य है, दूसरों का असत्य है।

ङ—शीलव्रतपरामर्श—अहेतु को हेतु मानना। जैसे ब्रह्मा आदि को जगत् का बनाने-वाला मानना। अमार्ग को मार्ग मानना। जैसे गङ्गा या दूसरे तीर्थों में स्नानादि से स्वर्ग या मुक्ति मानना। अग्नि में होम, पशु बलिदान आदि को धर्म समझना।

(६) विचिकित्सा—सन्देह, संशय।

इन छः बातों को कहीं संयोजन, कहीं बन्धन, कहीं अनुशय, कहीं ओघ और कहीं योग कहा है। इनके क्षय का ज्ञान बोधि है।

जिस ज्ञान से इनका क्षय होता है उसे धर्मज्ञान कहते हैं। कामधातु के विषय में आर्यसत्यों को जानना धर्मज्ञान है। कामधातु के विषय में यह समझना कि उसमें दुःख है और उस दुःख का कारण है। उस दुःख का निरोध करना है—उसे रोकना है और उसके निरोध का मार्ग भी है। इस क्षयज्ञान या धर्मज्ञान को 'बोधि' कहते हैं।

क्षयज्ञान या धर्मज्ञान के अतिरिक्त जिस दूसरे ज्ञान को बोधि कहते हैं वह है अनुत्पादज्ञान। कामधातु में पीड़ित और दुःखी लोग इस ख्याल से कि उन्हें दूसरी दुनिया में सुख मिलेगा तरह तरह के अनुष्ठान करते हैं तथा उनमें तृष्णा बनी रहती है कि वे किसी दूसरे लोक में उत्पन्न होंगे। दूसरे लोकों में पैदा होने या उत्पाद के न रहने का भाव ही अनुत्पाद है। अनुत्पाद के लिये जिस ज्ञान की ज़रूरत पड़ती है उसे अन्वयज्ञान कहते हैं। कामधातु के विषय में आर्यसत्यों का ज्ञान जैसे धर्मज्ञान कहलाता है वैसे ही रूपधातु और अरूपधातु के विषय में आर्यसत्यों का ज्ञान अन्वयज्ञान कहलाता है। अनुत्पादज्ञान या अन्वयज्ञान भी बोधि है।

इतने से बोधि का बहुत-कुछ मोटे तौर पर रूप समझ में आजाता है। कामधातु, रूपधातु, और अरूपधातु को बुद्ध ने दुःख से जुड़ा देखा है, फलतः उनके भीतर रमने और मौज उड़ाने की बात उनके ख्याल से उस आदमी जैसी है जो आग लगे घर में हँस और खेल रहा हो। दीपक की ओर से आँखें मूंद, अंधेरे में भटक रहा हो—

को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति ।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीप न गवेस्सथ ॥

खैर, दुनिया में रमने की बात जहाँ बुद्धने पसन्द नहीं की वहाँ दुनिया से भागने के पक्षमें भी वे न थे। आखिर लोग भाग कर जा कहाँ सकते हैं ? जङ्गल, पहाड़, बागबीचे, पेड़, और चैत्यों की शरण लेनेवालों, भयसे घबराए लोगों को देख कर बुद्ध ने कहा था कि यह उत्तम शरण नहीं है, इससे दुःख दूर न होगा। दुःख दूर करने के लिये इस दुनिया में ही बहुत कुछ करना पड़ेगा। दुनिया में रहते जो बातें करने को हैं उन्हें बोधिपाक्षिक धर्म कहा गया है।

बोधिपाक्षक धर्म सैंतीस कहे गए है पर वसुबन्धु ने उतनी बड़ी सख्या को दस के भीतर भीतर रक्खा है। उनके ख्याल से मूल बातें कुल दस हैं सिर्फ़ कहने में विस्तार कर देने से उनकी सख्या सैंतीस हो जाती हैं। पहले ज़रा विस्तार के साथ सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों को देखकर फिर उनका दस के भीतर जिस तरह अन्तर्भाव होता है, हम आगे चलकर देखेंगे।

सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों में चार स्मृत्युपस्थान बहुत मुख्य हैं। अनुरुद्ध ने स्मृति के अन्तर्गत स्मृत्युपस्थानों को समझा है (अभिधम्मत्थ सगगह ७।३४)। वसुबन्धु ने स्मृत्युपस्थानों को प्रज्ञा में गिना है। "प्रज्ञा हि स्मृत्युपस्थिति." (अभिधर्मकोश ६।६८)। वसुबन्धु की दृष्टि ज्यादा पैनी है। स्मृत्युपस्थान स्मृति रूप नहीं हैं प्रत्युत स्मृति द्वारा उपस्थित प्रज्ञा या ज्ञान हैं। शरीर, मन, अनुभूतियों तथा ससार के आभ्यन्तरिक और बाह्य पदार्थों को बुद्धिवादी जो कुछ समझता है उसको बारम्बार स्मृति द्वारा उपस्थित रखना, उन्हें न भूलना—बस, इसीका नाम स्मृति का उपस्थान है। इसमें इस तरह दो वस्तुएं हुईं। एक तो स्मृति और दूसरा स्मृति का विषय। यदि विषय को स्मृति से अलग कर दें तो विषय-रहित स्मृति का कुछ भी मूल्य न रहेगा और कदाचित् इसीलिये विषय को प्रधान मानकर वसुबन्धु ने स्मृत्युपस्थानों को प्रज्ञा कहा है। अनुरुद्ध ने विषय को गौण मानकर स्मृत्युपस्थानों को स्मृति रूप कहा है। महासतिपट्ठान सुत्त में (बुद्धचर्या पृष्ठ ११८) इनका बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। वहाँ बतलाया गया है काय, वेदना (=अनुभूति), चित्त (=मन) और धर्म (=मानसिक और भौतिक जगत) को किस रूप से समझना चाहिए। विस्तृत सूत्र का सार यों है—

(१) बुद्धवादी काय या शरीर को एक समूची चीज़ नहीं समझता बल्कि बहुत-सी वस्तुओं और घटनाओं का समूह समझकर उन्हें अलग अलग कर विचार करता है। मोटे तौर पर वह यों देखता है—

क—साँस लेना छोड़ना (=आनापान) शरीर के मुख्य काम हैं और जीवन के चिह्न

हैं। वह खूब सावधानी से सांस लेता और छोड़ता है, हमेशा ख्याल रखता है कि शरीर में ह्रास और विकास किस तरह होता रहता है।

ख—चलने—खड़े होने—बैठने—सोने (=ईर्यापथ) में सावधान रहता है। हमेशा ख्याल रखता है.

ग—शरीर के बाकी दूसरे व्यापारों में—आने-जाने, देखने, समेटने-फैलाने, खाने-पीने, कपड़ा लत्ता पहनने, चलने-ठहरने, बैठने, सोने, बोलने, और मौन रहने आदि को सभी दशाओं में जागरूक (=सम्प्रजन्य) भाव से रहता है। हमेशा...।

घ—शरीर को खून, चरबी, पसीना, मल-मूत्रादि से युक्त देखता (=प्रतिकूलमनसिकार) है। हमेशा...।

ङ—शरीर को पृथिवी, जल, अग्नि, वायु धातुओं की भौतिक घटना (=धातुमनसिकार) समझता है। हमेशा...।

च—शरीर को एक दिन सड़ने गलनेवाला समझता है। हमेशा ।

यों शरीर को देखते हुए उसके प्रति लालची नहीं होता। दुनिया में जोड़ू-बटोरू नहीं होता।

(२) वेदना अर्थात् सुख या दुःख जो कुछ आ पड़े सावधान रहता है। सुख या दुःख की अनुभूतियां भोग्य पदार्थों के भाव या अभाव के कारण हैं, इसे ख्याल करता रहता है। लालची नहीं होता। जोड़ू-बोटरू नहीं होता।

(३) चित्त में कब कौन भाव उत्पन्न होता है, क्यों उत्पन्न होता है, इसका सदा ख्याल करता रहता है। राग, द्वेष, मोह, द्रोह, कामुकता, उद्वेग, खेद, आलस्य, सन्देह आदि जब जो भाव उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते है उन्हें सावधान होकर देखता रहता है। अपने को उनके बीच खो नहीं देता। लालची नहीं होता, जोड़ू-बोटरू नहीं होता।

(४) धर्म अर्थात् मानसिक तथा भौतिक जगत् को विश्लेषण कर उन्हें साधारणतया यों देखता है—

क—मानसिक जगत् में पाच भाव बड़ी गड़बड़ मचाते रहते हैं। पहला है कामच्छन्द या कामुकता का भाव। दूसरा है व्यापाद या द्रोह। इनमें पहला राग से होता है और दूसरा द्वेष से। महायान सूत्रों (शिक्षासमुच्चय पृष्ठ १६४) में एक जगह कहा गया है कि बोधिसत्त्व पहाड़ के बराबर राग से नहीं डरता पर तिल भर भी द्वेष से बहुत डरता है। राग के कारण तो आदमी आदमी को अपनाता ही है पर द्वेष के कारण तो आदमी आदमी का संहार करता है। तीसरा है स्त्यानमिद्ध अर्थात् मन की अलसता। चौथा है औद्धत्य—कौकृत्य

अर्थात् उद्वेग-खेद। पांचवा है विचिकित्सा या सन्देह। इन सब भावों का किस तरह विकास और ह्रास होता है, इसे देखता रहता है। लालची नहीं होता। जोड़ू-बोटरू नहीं होता।

ख—भीतरी और बाहरी जगत् को स्कन्ध अर्थात् बहुत सी मानसिक या भौतिक घटनाओं का समूह समझना है। सभी भीतरी और बाहरी जगत् को मोटे तौर पर पांच स्कन्धों में बाँट लेता है। १—रूप अर्थात् भौतिक जगत्, २—वेदना अर्थात् सुख दुःख की अनुभूतियां, ३—सञ्ज्ञा अर्थात् विशेष ज्ञान, ४—सस्कार अर्थात् वेदना और सञ्ज्ञा को छोड़कर शेष मानसिक भाव, ५—चित्त या विज्ञान या मन। इस तरह पांच भागों में विभक्त कर उनके ह्रास और विकास को देखता रहता है। लालची नहीं होता, जोड़ू-बटोरू नहीं होता।

ग—आयतन अर्थात् इन्द्रियों तथा उनके विषयों और उन दोनों के प्रत्यय या कारण सामग्री के कारण जो ज्ञान होता है, उनके प्रति जागरूक रहता है। उनसे उत्पन्न सयोजन अर्थात् राग या तृष्णा को देखता रहता है। लालची नहीं होता, जोड़ू-बटोरू नहीं होता।

आयतन या इन्द्रियां छः हैं, उनके विषय भी छः हैं—

इन्द्रियां	विषय
चक्षु	रूप
श्रोत	शब्द
घ्राण	गन्ध
जिह्वा	रस
काय्	स्प्रष्टव्य (=स्पर्श)
मन	धर्म (=मानसिक भाव सुख, दुःख, ज्ञान आदि)

घ—बोध्यग अर्थात् बोधि में सहायक बातों का सावधानी से मनन करता रहता है, अभ्यास करता रहता है। यदि उनका अपने में अभाव देखता है तो उन्हें पाने का जतन करता है। उनकी उत्पत्ति और विकास एव पूर्णता पर पूरा ध्यान रखता है। उनके ह्रास और विकास को देखता रहता है। लालची नहीं होता। जोड़ू-बटोरू नहीं होता। सात बातें बोधि में सहायक होती हैं—

१. स्मृति, २. धर्मविचय (=धर्मान्वेषण जो वसुबन्धु के हिसाब से एक तरह की प्रज्ञा है), ३ वीर्य (=उद्योग), ४ प्रीति (=प्रसन्न रहना, हर्षित रहना), ५ प्रश्रब्धि (=शान्ति), ६. समाधि (=एकाग्रता), ७. उपेक्षा (=उदासीनता सुख दु खादि के प्रति)।

ङ—बुद्धिवादी चार आर्य-सत्यों अर्थात् दु.ख, दुःख समुदय (=दुख के कारण), दुःख-

निरोध और दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपदा (=दु.ख रोकने के रास्ते) के विषय में सावधान रहता है, उन्हें ठीक ठीक जानने का प्रयत्न करता है।

१. दुःख क्या है? उत्पन्न होना, बूढ़ा होना, मरना, शोक करना, विलाप करना, शरीर से तकलीफ़ पाना, मनसे तकलीफ़ पाना, परेशान होना, अप्रियों से मिलना, प्रियों से बिछुड़ना, जो चाहना उसे न पाना—ये सब दुःख ही दु:ख हैं। मनुष्य नहीं चाहता कि वह पैदा हो, बूढ़ा हो, मरे, अफ़सोस करे, रोए-कलपे, शरीर और मन से तकलीफें झेले, परेशान हो, अप्रियों से मिले, प्रियों से बिछुड़े तथा जो कुछ चाहे वह उसे न मिले। पर उसके न चाहने भर से ही वह दुःखों से बच नहीं सकता।

२. दुःख-समुदय क्या है? मनुष्य को जहां सुख मिलता है वहां उसको चाह या तृष्णा होती है। यह तृष्णा ही दु:ख का कारण है।

३. दुःख-निरोध क्या है? तृष्णा को रोकना—दूर करना ही दुःख-निरोध है।

४. दु:ख-निरोधगामिनी प्रतिपदा क्या है? आर्य अष्टांगिक मार्ग ही दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा है। आर्य या श्रेष्ठ मार्ग के आठ अंग यह हैं—

अ—सम्यग्दृष्टि—चार आर्य सत्यों का ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है। जो वसुबन्धु के हिसाब से प्रज्ञा है।

आ—सम्यक् संकल्प—नैष्काम्य संकल्प (=काम अर्थात् राग के परित्याग का संकल्प), अव्यापाद अर्थात् अद्रोह का संकल्प, और अविहिंसा (=अहिंसा) का संकल्प ही सम्यक् संकल्प है।

इ—सम्यग्वाचा—असत्य, पिशुनता, कठोरता, और बेकार की गपशप (=सप्रलाप) छोड़कर बात बोलना सम्यग्वाचा है।

ई—सम्यक्कर्मान्त—प्राणिबध, चोरी, और काममिथ्याचार (=अवैध मैथुन) को छोड़ कर काम करना सम्यक् कर्मान्त है।

उ—सम्यग्व्यायाम (=ठीक उद्योग):

१. पाप न होने देने की रुचि उत्पन्न करना।
२. हो चुके पाप को दुबारा न होने देना।
३. पुण्य करने की रुचि उत्पन्न करना।
४. किए पुण्य को स्थिर करना और बार बार करने की रुचि उत्पन्न करना।

इन्हीं चारों को सम्यक् प्रधान और सम्यक् प्रहाण भी कहते हैं।

ऊ—सम्यक् समाधि—काम (=राग या आसक्ति) छोड़कर मन को शान्त करने का नाम

६

समाधि है। अनासक्ति उत्पन्न होने पर भी मन के सभी क्षोभ शान्त नहीं होते; उन्हें शान्त करने में कुछ देर लगती है। आसक्ति-रहित होने पर मन में काम भावनाएं नहीं जातीं पर ये चार भाव फिर भी बने रहते हैं—

१—वितर्क

२—विचार

३—क- प्रीत, ख- सुख

इन चारों में से पहले को ध्यान की दूसरी सीढ़ी में दूर कर दिया जा सकता है। दूसरे को तीसरी सीढ़ी में, तीसरे के दोनों भावों को चौथी सीढ़ी में दूर किया जा सकता है। निष्कामता की यही पराकाष्ठा है जिसे उपेक्षा कहते हैं, जिसमें किसी प्रकार का भी मानसिक विक्षोभ नहीं रह जाता। इन चार सीढ़ियों को चार ध्यान कहते हैं।

इतने से स्मृत्युपस्थानों का स्वरूप बहुत कुछ समझ में आ जाता है। बुद्धिवादी जिस दृष्टि से काम, वेदना, चित्त और धर्मों का विश्लेषण करता है, वह दु ख-बोध नहीं है। इनमें सब जगह लौकिक दृष्टि को प्रधानता दी है। दुःख का कारण तृष्णा है। तृष्णा के कारण जब एक व्यक्ति अधिक संग्रह कर लेता है तो दूसरा गरीब हो जाता है और गरीबी के कारण फिर चोरी-हत्या आदि सब कुछ होता रहता है। पारस्परिक लड़ाई झगड़े तथा युद्ध होते रहते हैं। इन सब बातों का अगञ्ञसुत्त, चूलदुक्खक्खन्धसुत्त, महादुक्खक्खन्धसुत्त और चक्कवर्ती सीहनादसुत्त में विस्तार से वर्णन है। इनसे यह बात प्रकट हो जाती है कि बुद्ध दुनिया के दु.ख का कारण बहुत कुछ समाज के दूषित सगठन को समझते हैं, फिर भी यह समझना ठीक न होगा कि उन्होंने दुनिया के दुःख की केवल भौतिक व्याख्या की है। दुनिया के अधिकांश दुःख की उन्होंने भौतिक व्याख्या की है और समाज के दूषित सगठन के कारण ही वे समाज के भीतर दुःख का अस्तित्व समझते हैं। पर आध्यात्मिक या अभौतिक व्याख्या भी साथ में है। दुःख के स्वरूप में, जैसा हमने ऊपर देखा है, "उत्पन्न होना" भी दुक्ख कहा गया है। यदि मनुष्य उत्पन्न न होता तो सचमुच दुःख न होता पर यह तो उसके वश की बात नहीं है। भौतिकवादी उत्पादनिरोध के लिये भौतिक उपाय बताएगा; सन्ततिनिरोध के साधनों को प्रस्तुत करेगा। पर अभौतिकवादी के ख्याल से, जिसका जन्म होता है उसका राग ही उसमें कारण है। मनुष्य मरते हैं पर ससार के प्रति उनका राग बना रहता है इसीलिये वे जन्म लेते रहते हैं। यदि राग पूरा पूरा दूर कर दिया जाए तो फिर जन्म नहीं लेना पड़ेगा। और जब जन्म नहीं तब दुःख भी नहीं रहेगा। जन्मरूपी दुःख को दूर करने का यही उपाय है। पर जन्म के बाद मरने तक जो दुःख होता है उसका उपाय बहुत कुछ भौतिक है। उदाहरण के लिये, भूख और प्यास दुःख

ही हैं। भूख के दुःख और प्यास के दुःख को दूर करने के लिये अन्न और पानी चाहिए। हाँ, अध्यात्मवादी अपनी आध्यात्मिक व्याख्या इनके साथ ज़रूर जोड़ेगा और वह यह है कि अन्न-पान को तृष्णा रहित होकर सेवन करना चाहिए। पर वह भी भौतिक उपाय से अलग नहीं रह सकता। इस तरह जीवन में शरीर के दुःखों को दूर करने के लिये भौतिक सामग्री के बिना काम नहीं चल सकता। मानसिक दुःखों के कारण भी दुनिया में बहुत कुछ भौतिक होते हैं। वियोग में तड़पना, किसी चीज़ के खोजाने का अफसोस, किसी चीज़ के पाने का बहुत जतन करके भी न पाने की असफलता आदि का सम्बन्ध भौतिक पदार्थों से ही होता है। इस तरह संसार के दुःख दूर करने के उपाय बहुत कुछ भौतिक हैं और बुद्ध उन भौतिक उपायों से पूर्णतया सहमत हैं। यदि ऐसा न होता तो वे ग़रीबी और अमीरी को भौतिक व्याख्या न करते (अग्गञ्ञसुत्त) और कह देते कि दुःख पूर्वजन्म के कर्मों का फल है। इस तरह बहुत कुछ भौतिक दृष्टि से विचार किया गया है। पर जन्मरूपी दुःख को दूर करने की कोई भी व्याख्या भौतिक नहीं है। जन्म तृष्णा के कारण होता है और तृष्णा के निरोध से जन्म का निरोध हो जाएगा: यही जन्मरूपी दुःख को दूर करने का उपाय बताया गया है। इस अध्यात्मिक व्याख्या को समझना कठिन है। मनुष्य तृष्णा के कारण जन्म लेता है और तृष्णा वहीं हो सकती है जहां सुख हो। दुःख के प्रति तो जड़बुद्धि को भी तृष्णा नहीं होती। इस संसार में दुःख भोगनेवाले ही बहुत हैं। उन दुःख-भोगियों को दुःख देनेवाले समाज में—संसार में—रहने की इच्छा या तृष्णा ही फिर पैदा होने को मजबूर करती है, यह समझना बहुत कुछ कठिन है। कम से कम औसत बुद्धि का आदमी बिल्कुल नहीं समझ सकता। रोगों से सड़ते और भूख से मरते हुए लोगों में फिर फिर रोग भुगतने और भूखे रहकर तड़पने के लिये दुनिया में आने की तृष्णा भी हो सकती है, ऐसा नहीं समझा जा सकता। हाँ, जिन्हें दुनिया में मौज रहती है वे यहाँ मौज उड़ाने के लिये बार बार आना चाहें तो ठीक हो सकता है और शायद वे जन्म को दुःख नहीं समझ सकते। जो भी हो, जन्म को दुःखरूपता तो समझ में आ जाती है पर उसके दूर करने का उपाय साधारण जन के लिये दुःखबोध है। प्राणी का जन्म उसके पूर्वजन्म की तृष्णा के कारण होता है, यह समझ में नहीं आता। प्राणी का जन्म उसके मां-बाप की तृष्णा से होना तो समझ में आ जाता है और उस तृष्णा को दूर करना, यदि सम्भव नहीं, तो कम करके जन्म की संख्या कम की जा सकती है। और भौतिक साधनों से जन्म भी बिल्कुल रोका जा सकता है तथा मनुष्य जाति के अस्तित्व को ही नहीं दूसरे प्राणियों के अस्तित्व को भी सर्वथा समाप्त किया जा सकता है। इस तरह भौतिक साधनों से जन्म रोक देना, मनुष्य के अस्तित्व को मिटा देना सम्भव है पर तृष्णा-निरोध के द्वारा जन्म को मिटा देना कदाचित् कोरी कल्पना

ही कल्पना है। इसका व्यावहारिक मूल्य बहुत कम है। दूसरी बात यह कि जन्म हो ही नहीं, यह तो आज भातिक साधनों से किया जा सकता है और पूव युग में भी किया जा सकता था। ठीक यही बात आध्यात्मिक साधनों से करने में उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं है। ब्राह्मणों के सभी दार्शनिक सम्प्रदायों, जैनों और बौद्धों में धर्म का उच्चतम आदर्श इस दुनिया में जन्म न होने देना ही है। इसे मोक्ष या निर्वाण जैसे शब्दों द्वारा कहा गया है पर ससार की दृष्टि से उनका रूप जन्माभाव ही है। इतना ही नहीं, इस तरह की मुक्ति के निमित्त स्त्री-सहवास से विरत रहने का व्रत भी बताया गया है। सचमुच यदि सहवास के परित्याग का कठोर व्रत इस दुनिया के हित के लिये न होकर दुनिया में मनुष्य का जन्म न होने देने के निमित्त है, तो बहुत साफ़ है कि इसका अभिप्राय दुनिया को उजाड़ देना है और उसका मूल्य संसार के लिये नहीं के बराबर है। मेरा अनुमान है कि धर्म के इस जन्म न होने देनेवाले आदर्श की दुर्बलता पर पुराने लोगों का भी ध्यान गया था। महाभारत में जरत्कारु महर्षि की एक कहानी है। जरत्कारु ने ब्रह्मचर्यव्रत लिया था। घूमते-घामते उन्हें एक बार कुछ ऋषि दिखाई पड़े जो उल्टा होकर गढ़े में तिनके के सहारे लटके हुए थे तथा तिनके की जड़ें वहां रहनेवाले चूहे ने कुतरकर खोखली कर दी थीं। जरत्कारु ने उनसे पूछा कि आप लोग कौन हैं जो इस तरह लटके दुःख पा रहे हैं। उन्होंने उत्तर दिया—

यायावरा नाम वयं ऋषयः शसितव्रताः।
सन्तानस्य क्षयाद् ब्रह्मन् अधो गच्छाम मेदिनीम् ॥
अस्माकं सन्ततिस्त्वेको जरत्कारुरिति स्मृतः।
मन्दभाग्योऽल्पभाग्यानां तप एक समास्थितः ॥
न स पुत्राञ्जनयितुं दारान्मूढश्चिकीर्षति।
तेन लम्बामहे गर्ते सन्तानस्य क्षयादिह ॥—आदिपर्व, अध्याय १३।१७-१९

हे ब्रह्मन्, हमारा नाम यायावर है, व्रतों के पालन में प्रशसित ऋषि हैं। सन्तान के न होने से नीचे धरती की ओर गिर रहे हैं। हम कमनसीबों का एक अभागा पुत्र जरत्कारु है जो कोरे तप में लगा है। पुत्र उत्पन्न करने के लिये वह स्त्री नहीं करना चाहता और इसीलिये सन्तान के क्षय होने से हम लटक रहे हैं।

जरत्कारु को यह देख बहुत दुःख हुआ। उनने अपने पितरों से पूछा कि मैं आपके लिये अब क्या करूं। उन्होंने सन्तान उत्पन्न करने को कहा और बताया कि पुत्रवान् लोग जिस गति को प्राप्त करते हैं वह गति तप और धर्माचरण के फल से नहीं प्राप्त होती—

न हि धर्मफलैस्तात न तपोभि. सुसञ्चितै:।
तां गति प्राप्नुवन्तीह पुत्रिणो यां व्रजन्ति वै ॥—आदिपर्व, अध्याय १२।२४

पुत्रलाभ को सब प्रकार के धर्म-कर्म पर तरजीह देना सचमुच उस सिद्धान्त का नरम ढंग से खण्डन है जो घरबारी जीवन को निःसार बताता है। बस इतना हो इस कहानी का भाव है जो बहुत साफ है। मुक्ति-मोक्ष-निर्वाण या दुनिया में जन्म न होने देने के लिये किए गए ब्रह्मचर्य पर बड़े सुन्दर ढंग से आक्रमण किया गया है। वस्तुतः बहुत प्राचीन युग में जन्म को दु.ख नहीं समझा जाता था और न पहले ससार में उतना दु ख था जितना कि बुद्ध के समय में हो गया था। उस समय दुःख की उपरोक्त अभौतिक व्याख्या भी न थी। उपनिषदों के युग में दुःख और दुःख के कारण की वह व्याख्या हुई अथवा किसी दूसरे निकास से वह व्याख्या उनमें आई जो उस समय के श्रमणों में भी थी। परवर्ती हिन्दूधर्म में वह व्याख्या बनी रही और आज भी बनी हुई है। उस व्याख्या का विरोध करने के लिये ही जरत्कारु की कहानी अस्तित्व में आई पर इस तरह का विरोध कुछ कारगर न हुआ। दुनिया की उलझनें इतनी थीं कि उन्हें सुलझता न देख दुःख और उसके कारण की ऐसी अभौतिक व्याख्या की गई कि लोग अपने दुःख की गाँठें सुलझाने और तोड़ने की अपेक्षा उन्हीं में उलझते रहने के आदी हो गए। ब्राह्मणों, बौद्धों और जैनों ने पुराने प्रवृत्ति मार्ग की एक स्वर से बुराई की। प्रवृत्ति मार्ग के प्रतिपादक वेदों की परवर्ती ब्राह्मणों ने निन्दा की (गीता)। बौद्धों ने उसे मिथ्यादृष्टि कहकर दुत्कारा। ब्राह्मण-धम्मियसुत्त (सुत्तनिपात) में प्राचीन ब्राह्मणों के प्रवृत्तिमार्ग का जो वर्णन है उसकी दो गाथाएं यों हैं—

ब्राह्मणा सेहि धम्मेहि किच्चाकिच्चेसु उस्सुका।
याव लोके अवत्तिसु सुखमेधित्थय पजा ॥
अट्ठचत्तालीस वस्सानि ब्रह्मचरियं चरिंसुते।
संप्पियेनेव सवासं सगन्त्वा समरोचयु ॥

अर्थात् ब्राह्मण अपने धर्मों के साथ कर्तव्य और अकर्तव्य (के विवेचन) में उत्सुक जब तक लोक में रहे, प्रजाएं सुख पाती रहीं। अड़तालीस बरस ब्रह्मचर्य से रहते थे। उन्हें प्रेमवाली स्त्री के साथ साथ रहना पसन्द था।

इस जगह अट्ठकथा में बड़ी रोचक व्याख्या है। "(प्रश्न:) इतने दिन ब्रह्मचर्य का पालन कर वे क्यों स्त्री ढूढ़ते थे? (उत्तर:) उनमें यह मिथ्या दृष्टि रहती थी कि जो पुत्र नहीं पैदा करता, कुलघाती होता है और नरक को जाता है।" अट्ठकथा ने जो बात कही है उसीसे

मिलती जुलती बात जरत्कारु की कहानी में है। जन्म की दुःखरूपता और उसके उपाय के अतिरिक्त स्मृत्युपस्थानों से जो दूसरी बात प्रतिध्वनित होती है वह है रागात्मक वृत्ति को बिल्कुल कुचल देना। इसमें दूसरे ब्राह्मण और अब्राह्मण दर्शन बौद्धधर्म के साथ साथ हैं। इस रागात्मक वृत्ति के कुचलने की प्रतिक्रिया ही बाद में पौराणिक धर्म और महायान में प्रकट हुई जिसमें राग को भक्ति के रूप में मानवजीवन के अन्दर प्रतिष्ठित किया गया। इसकी चर्चा हम आगे चलकर विस्तार के साथ करेंगे।

चार स्मृत्युपस्थानों के अतिरिक्त सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों में दूसरे धर्म यों हैं—

चार सम्यक् प्रधान (दे० पीछे सम्यग्व्यायाम)

चार ऋद्धिपाद—१—छन्द, २—वीर्य, ३—चित्त, और ४—मीमांसा (=वीमंसा, प्रज्ञा)

पाँच इन्द्रिय—१—श्रद्धा, २—वीर्य, ३—स्मृति, ४—समाधि, और ५—प्रज्ञा।

पाँच बल—१—श्रद्धा २—वीर्य, ३—स्मृति, ४—समाधि, और ५—प्रज्ञा।

सात बोध्यंग—(दे० पीछे पृष्ठ—६)

आठ मार्गाङ्ग—(दे० पीछे पृष्ठ—७)

वसुबन्धु ने ऋद्धिपादों का समाधि के भीतर अन्तर्भाव किया है। ऋद्धि (=लोकोत्तर या चमत्कार करने की शक्ति) उत्पन्न करने की इच्छा का नाम छन्द है। उसके लिये किए जानेवाले उद्योग का नाम वीर्य है। चित्त या मन उसका आधार है और उसके लिये सहायता देनेवाली विवेचना-बुद्धि का नाम मीमांसा है। इन चारों निमित्तों से समाधि प्राप्ति हो जाने पर वह समाधि ऋद्धि में सहायक हुआ करती है। स्मृत्युपस्थान के प्रसग में और सभी बोधिपाक्षिक धर्मों के बारे में कहा गया है। केवल श्रद्धा के बारे में ज़िक्र नहीं हुआ है। श्रद्धा एक प्रकार का विश्वास है जिसके कारण मनुष्य किसी कार्य में लगता है। पृथिवी के भीतर पानी होता है। इस विश्वास के बल पर लोग ज़रूरत पड़ने पर कुआँ खोदते है। सभी प्रकार के कार्य करने में श्रद्धा बहुत अपेक्षित है। धर्ममार्ग में श्रद्धा आदि पाँच बातों की प्रधानता रहती है, उनकी स्थिरता होने से बल प्राप्त होता है। प्रधानता के कारण ही उन्हें इन्द्रिय कहा जाता है और स्थिरता के कारण ही उन्हें बल कहा जाता है—

"प्राधान्यादिन्द्रियमिति स्थिरत्वाद् बलमित्यतः।"—सौन्दरनन्द १२।३७

इन सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों के भीतर जितनी बातें बताई गई हैं वे सैंतीस नहीं हैं। वसुबन्धु के अनुसार वे सिर्फ़ दस हैं। अनुरुद्ध के हिसाब से वे चौदह हैं—

बोधिपाक्षिक धर्मों का वर्गीकरण

वसुबन्धु का वर्गीकरण

१—श्रद्धा=इन्द्रिय, बल।

२—वीर्य=इन्द्रिय, बल, सम्यक् प्रधान, बोध्यग वीर्य, सम्यक् व्यायाय।

३—स्मृति=इन्द्रिय, बल, बोध्यगस्मृति, मार्गांग सम्यक् स्मृति।

४—समाधि=इन्द्रिय, बल, ऋद्धिपाद (=छन्द, वीर्य, चित्त, मीमांसा) सम्बोध्यग समाधि, मार्गांग सम्यक् स्मृति।

५—प्रज्ञा=इन्द्रिय, बल, बोध्यग धर्मविचय, मार्गांग सम्यक् दृष्टि, चार स्मृत्युपस्थान।

६—प्रीति=सम्बोध्यंग।

७—उपेक्षा=संम्बोध्यग।

८—प्रश्रब्धि=संम्बोध्यंग।

९—शील=सम्यग्वाचा, सम्यक्कर्मान्त, सम्यक् आजीव।

१०—सकल्प=मार्गांग

वसुबन्धु और अनुरूद्ध की समानता और असमानता

१—वसुबन्धु की तरह

२—वसुबन्धु की तरह पर वीर्य ऋद्धिपाद अधिक

३—वसुबन्धु की तरह पर चार स्मृत्युपस्थान अधिक

४—वसुबन्धु की तरह पर ऋद्धिपाद शामिल नहीं।

५—वसुबन्धु की तरह पर चार स्मृत्युपस्थान शामिल नहीं, और मीमांसा-ऋद्धिपाद शामिल।

६—वसुबन्धु की तरह

७—वसुबन्धु की तरह

८—वसुबन्धु की तरह

९=(९, १०, ११)—वसुबन्धु की तरह। पर वसुबन्धु इन्हें एक शील कह-कर गिनते हैं और अनुरूद्ध तीन अलग अलग गिनते हैं।

१०=(१२) वसुबन्धु की तरह।

(१३) छन्द— } वसुबन्धु के हिसाब से समाधि में अन्तर्भाव
(१४) चित्त— }

इन्हीं कुछ गिनी-चुनी बातों का बौद्धों की धर्मसाधना में स्थान है। बौद्धों के हर एक सम्प्रदाय के लिये, हर एक शाखा के लिये इनका एक समान महत्त्व है।

ख—तीन यानों की परस्पर विशेषताएं और उनका विकास

तीनों यानों की साधनाओं में जो परस्पर विशेषताएँ हैं उनका वसुबन्धु ने अपने बोधिचित्तोत्पाद में ज़िक्र किया है। हीनयान में श्रावकयान की साधना चार आर्यसत्यों के साक्षात्कार की साधना है। प्रत्येक बुद्धयान की साधना प्रतीत्यसमुत्पाद के साक्षात्कार की साधना है। महायान या सम्यक् सम्बुद्धयान की साधना ब्रह्मविहारभावना और पारमिताओं के अभ्यास की साधना है।

चार आर्यसत्यों के साक्षात्कार से अर्हत्पद प्राप्त होता है। चूंकि आर्यसत्यों के शास्त्र या शिक्षक बुद्ध होते हैं और उनसे सुनकर ही दूसरे लोग उनका साक्षात्कार कर सकते हैं इसीलिये इन लोगों का यान (=अक्षरार्थ, जिससे जाया जाए, रथ आदि) या रास्ता श्रावकयान अर्थात् सुनकर चलनेवालों का रास्ता है।

कारण के होने पर कार्य होता है, इसके होने पर यह होता है ('अस्मिन् सतीदं भवति'), इस नियम के अनुसार जो दुःख के कारण तक पहुँच जाता है और उस कारण को रोककर अपने दु ख को रोक देता है वह प्रत्येक बुद्ध अर्थात् अपने आप बोध कर लेनेवाला कहलाता है। कार्यकारण के सिद्धान्त का नाम ही प्रतीत्य-समुत्पाद है। प्रतीत्य-समुत्पाद का अक्षरार्थ है—प्रत्यय से—बीतने से—उत्पाद—उत्पत्ति का होना। हर एक उत्पाद का कोई न कोई प्रत्यय होता है। प्रत्यय से मतलब सिर्फ़ कारण या हेतु से ही नहीं है (दर्शनदिग्दर्शन, पृष्ठ ५१२) प्रत्युत कार्य से पूर्व की उस सब घटना से है जिसके बीतने पर कार्य का उदय होता है। इस तरह उत्पाद मात्र का प्रत्यय ठीक प्रत्यय या बीतनेवाली या बदल जानेवाली चीज़ है। भाव यह है जो कुछ उत्पन्न होता है वह प्रत्यय या बदलनेवाली चीज़ से ही होता है। इसी सिद्धान्त का सरल रूप चार आर्य सत्य हैं। बीतनेवाले—बदलनेवाले—प्रत्यय से ही सब कुछ उत्पन्न होता है। हमारा दु.ख भी उसी तरह के प्रत्ययों से उत्पन्न होता है। यदि दुःख की उपमा अंकुर से दें तो उसके बदलनेवाले प्रत्यय की उपमा बीज है। बीज को अंकुरित न होने देने के लिये लोग उसे भून डालते हैं। दुःख जिन प्रत्ययों से होता है उन्हें भी भून डालने की ही ज़रूरत है। बुद्ध के हिसाब से दुःख का प्रत्यय राग या तृष्णा है। इस तृष्णा को भूलने की ही ज़रूरत है। बीजों को भूनने के लिये भाड़ चाहिए और तृष्णा को भूलने के लिये बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग है।

इस तरह तृष्णा को दु:ख के रूप में बदलने से रोका (=निरोध) जा सकता है। बहुत स्पष्ट है कि प्रतीत्य समुत्पाद का ही सरल रूप चार आर्यसत्य हैं। प्रतीत्य समुत्पाद का ज़रा जटिल रूप द्वादशांग हैं जिन पर हम आगे चलकर विशेषरूप से कहेंगे।

प्रतीत्य समुत्पाद की साधना से मनुष्य 'प्रत्येक बुद्ध' होता है। प्रतीत्य समुत्पाद के सहारे दु:खोत्पत्ति के प्रत्यय का साक्षात्कार कर उसे रोक देना मात्र ही इस साधन का ध्येय है। पर उससे दुनिया का दु:ख तो बना ही रहता है। कोई भी सिद्धान्त कितना ही उत्तम क्यों न हो जब तक वह व्यवहार में ठीक नहीं बैठता तब तक उसका मूल्य नहीं के बराबर है। यदि कोई सिद्धान्त सिर्फ़ गिने चुने आदमियों का भला कर सके तो उसका मूल्य सब लोगों के लिये बहुत थोड़ा है। चार आर्य सत्यों अथवा प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा यदि किसी ने अपनी ही भलाई कर ली तो उससे दूसरों का क्या? सब लोगों के दु:खों को दूर करने का व्यवहारिक मार्ग अपेक्षित है। व्यक्तिगत दुःख दूर करने का तो लोग जतन करते हैं पर सब के दुःख को दूर करने के प्रति उदासीन रहते हैं।

पर इस प्रकार का अनुदार भाव हमेशा से न था। मानवसमाज के विकास के बारे में यह ख़्याल किया जाता है कि एक युग था जब लोगों के पास अपना अपना कुछ न था। लोगों के पास जो कुछ होता वह उस समाज का समझा जाता था जिसमें कि वे रहते थे। पर बाद में यह भाव जाता रहा तथा लोग उस समाज के प्रति सोचना भूल गए जिसके कि वे अंग थे और अपनी अपनी बात सोचने लगे। और यही बात धार्मिक साधना में भी हुई। शुरू शुरू में धर्म की साधना किसी एक आदमी के स्वार्थ की चीज़ न थी पर बाद में लोग अपनी अपनी मुक्ति के पीछे उसी तरह परेशान रहने लगे जैसे साधारण लोग अपने अपने लिये धन-दौलत बटोरने में परेशान रहा करते थे। बुद्ध के समय में भी यही बात थी पर पुराना युग बिल्कुल भुलाया न जा सका था। उनके समय में गणराज्य थे। बुद्ध का अपना जन्म भी गणराज्य (=प्रजातन्त्र) का ही था। गणराज्यों में रहने वाले लोग उस समय में भी सब बातों में नहीं पर कितनी बातों में व्यक्तिगत लाभ की बात न सोच सारे समाज के लाभ की बात सोचते थे। इस बात का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से बुद्ध के उपदेशों में भी रहा।

चार आर्य सत्य और प्रतीत्यसमुत्पाद की साधना बहुत कुछ व्यक्तिगत साधना है। बुद्ध जब प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार कर चुके तो उन्होंने ख़्याल किया कि हमने जिस बात को जिस रूप से समझा है उसको समझ लेना लोगों के लिये आसान बात नहीं। इसलिये उन्हें ख़्याल हुआ कि क्यों न मैं एकान्त जीवन बिताता हुआ अलग पड़ा रहूँ। व्यर्थ ही लोगों से माथा-पच्ची क्यों करूं (विनयपिटक पृष्ठ ७८)। यद्यपि अन्त तक बुद्ध इस तरह रह न सके। उन्होंने

अपना सन्देश लोगों को दिया। स्वयं सारा जीवन घूम घूमकर अपनी बात लोगों को सुनाते रहे। उनके अनुयायियों ने भी यही किया। जनता के लिये बुद्ध और उनके अनुयायियों की उत्सर्ग-भावना ने ही कदाचित् भीतर ही भीतर एक नये विचार-को उत्पन्न किया। बुद्धिमान् लोगों को यह बात समझने में देर न लगी कि बुद्ध की साधना यद्यपि व्यक्तिगत जीवन को उन्नत बनाने के लिये है पर उसका लक्ष्य समाज के जीवन को ही उन्नत करना है, अन्यथा बुद्ध के उस सन्देश का कोई अर्थ ही नहीं रहता जिसमें उन्होंने अनुयायियों से उस समय कहा था जब उनके पास दीक्षित लोगों की सख्या साठ हो गई थी। भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा था—

भिक्षुओ, बहुत जनों के हित के लिये, बहुत जनों के सुख के लिये, लोक पर दया करने के लिये,...मनुष्यों के प्रयोजन के लिये, हित के लिये, सुख के लिये विचरण करो। एक साथ दो-जने मत जाओ। आदि में कल्याण, मध्य में कल्याण (और) अन्त में कल्याण (—कारक) धर्म का उपदेश करो। (विनयपिटक, पृष्ठ ८७)। बहुत स्पष्ट है कि बुद्ध के धर्म का उद्देश्य 'बहु-जन हित' और 'बहु-जन-सुख' था। इस उद्देश्य के रहते हुए भी आर्य सत्य और प्रतीत्यसमुत्पाद की साधनाएं व्यक्तिगत साधनाएं थीं। इनकी विस्तार से चर्चा हम आगे करनेवाले ही हैं पर इन दोनों साधनाओं का रूप इस जगह पर भी देखना ठीक होगा। इन दोनों साधनाओं में तृष्णा को दूर करना ही परम लक्ष्य है क्योंकि ससार के सारे दुःखों की उत्पत्ति बौद्धों के हिसाब से कोरी तृष्णा ही है। यदि हमने अपनी तृष्णा दूर कर दी तो हम मुक्त हैं और हमें कुछ भी और कर्तव्य नहीं है। इतना मात्र ही इन साधनाओं का केन्द्रविन्दु है। यदि सचमुच इस बात पर ज़रा ध्यान दें तो यह बात सामने आ जाती है कि इन साधनाओं में इस बात का कहीं पता भी नहीं कि इन साधकों को अपने से अतिरिक्त दूसरों के साथ भी कुछ करना है। पर बुद्ध और उनके अनुयायियों ने व्यवहारिक रूप में इन साधनाओं के विरुद्ध ही आचरण किया है। उन्हें अपनी मुक्ति, अपने सुख की बात को छोड़ जो घूम घूम कर धर्मदेशना की धुन लगी रही, वह यह बतलाए बिना नहीं रहती कि उनका दृष्टिकोण काफ़ी दूर तक सार्वजनीन था। साधना के द्वारा व्यक्तिगत जीवन की उन्नति परम लक्ष्य कदापि न थी यद्यपि उसे आवश्यक समझा जाता था। और इसलिये कि जो अपने जीवन को उन्नत कर सके हैं वे यदि चाहें तो दूसरों को बिना क्लेश के ही शिक्षा दे सकेंगे—उन्हें सरलता से प्रभावित कर सकेंगे—

अत्तानमेव पठमं पतिरूपे निवेसये।
अथञ्ञमनुसासेय्य न किलिस्येय्य पण्डितो॥ धम्मपद १२.२

इस बहु-जन-हित और बहु-जन-सुख के लिये प्रयत्न करने की भावना ने अनेक कथाओं को जन्म दिया। आज जातकों और अवदानों में जितनी कथाएं हैं उनका मूल मन्त्र किसी

न किसी रूप में पर-हित ही है। इनसे मिलती जुलती कथाए पुराणों और रामायण, महाभारत के भीतर भी मौजूद हैं। पर-हित और पर-सुख के लिये त्याग करने को कहानियां उपदेश देते समय काम आती रही होंगी और आज भी काम आ रही हैं। यह कहानियां किस निकास से बौद्ध साहित्य में शामिल हुईं और उनकी ऐतिहासिक कथा क्या है इस पर तो यहां विचार करना अप्रासगिक होगा। इतना समझ लेना काफ़ी होगा कि इनके बारे में सामान्यतया यह ख़्याल है कि यह सब कहानियां भारतीय जनता की सबसे पुरानी कहानियां है। इनको भारत के सभी धर्म-सम्प्रदायों ने अपने अपने रङ्ग मे रङ्ग कर अपने साहित्य के भीतर जमा कर अमर कर दिया है। सैकड़ों की सख्या में इन कहानियों को हीनयान त्रिपिटक के भीतर देखकर यह समझते देर नहीं लगती कि साधनाओं का लक्ष्य व्यक्तिगत उन्नति होते हुए भी उनकी प्रवृत्ति बहु-जन-हित और बहु-जन-सुख की ओर ही है।

परहित और परसुख की भावना अथवा बहु-जन-हित और बहु-जन-सुख की भावनाओं से ओतप्रोत कहानियां समय पाकर धीरे धीरे बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाए बन गईं और यह ख़्याल किया जाने लगा कि सचमुच अनेकों जन्मों तक प्राणिहित के लिये अनेक प्रकार का त्याग और यत्न करते करते वह बुद्ध हुए थे। बुद्ध के जीवन में ही उनका स्थान एक शास्ता या धर्मगुरु के रूप में बहुत ऊँचे उठ चुका था पर बाद में जब यह सब कहानियां उनके जीवन के साथ जुड़ गईं तब तो वे बहुत कुछ कल्पनातीत हो उठे। बुद्ध के जीवन के साथ यह कहानियां क्यों और कैसे जुड़ीं? यदि उस पुराने समय को बारीक निगाह से देखें तो जान पड़ेगा कि उस समय महात्माओं में बहुत कुछ लोकोत्तरता का ख़्याल किया जाता था। पुराने समय की तो बात ही क्या, आज भी जनसाधारण से यह विश्वास टूट नहीं सका है। तरह तरह की सिद्धियों, पूर्वजन्म, परजन्म की बातों आदि का बता देना उस समय महात्माओं के बाएं हाथ का खेल समझा जाता था। फलतः बुद्ध के विषय में भी इस तरह का ख़्याल करना उस समय स्वाभाविक था। बुद्ध के जीवन में ही उनकी लोकोत्तरता का बहुत कुछ हल्ला होने लगा था जिससे चिढ़कर बुद्ध ने कहा था कि इस तरह मेरे बारे में ख़्याल करना सचमुच मेरी निन्दा है (मज्झिमनिकाय, ७१वां सुत्त)। खैर, बुद्ध ने अपनी लोकोत्तरता से भले ही इनकार किया हो पर उनके अनुयायियों ने लोकोत्तरता उनके गले मढ़ ही दी और उन्हीं के मुंह से सैकड़ों कहानियाँ उनके पूर्वजन्म के रूप में कहलवाकर उनको इतना लोकोत्तर बना दिया कि वहां तक लोगों की सहज बुद्धि का पहुँचना भी मुश्किल हो गया। यह सब करते हुए उनके अनुयायियों ने कुछ भूलें कर दीं। लोकोत्तरता के विरुद्ध बुद्धजीवन के सम्बन्ध की कितनी ही बाते जो सचमुच उनके जीवन की बातें थीं पड़ी रहने दीं। भले ही यह बात भूल से हो हुई है। पर उसने यह बतला दिया कि

उनको लोकोत्तर बनाना साम्प्रदायिक प्रवृत्ति थी पर यह अकारण न थी। चमत्कारों पर भरोसा करने वाली उस दुनिया के लिये यदि बुद्ध को वे चमत्कारी ढग से न पेश करते तो उन्हें मानता कौन?

जब बुद्ध के बारे में ख़्याल किया जाने लगा कि अनेकों जन्मों तक रगड़ करते करते वह बुद्ध हुए हैं तब उनके उस त्याग और साधना का भी धीरे धीरे वर्गीकरण होना शुरू हुआ। इस वर्गीकरण का नाम ही 'पारमिता' है। अनेकों जन्मों तक जो कुछ प्राणि-हित के लिये उन्होंने प्रयत्न किए उन्हें एक शब्द 'पारमिता' के द्वारा कहा जाता है। बहुत जन्मों तक किया गया उनका त्याग और तप सब एक ही तरह का न था। उसकी बहुत सी क़िस्में थीं इसलिये पारमिताओं की भी बहुत सी क़िस्में हुईं। हम इनकी विस्तार से चर्चा करने ही वाले हैं। पारमिताओं का अभ्यास दूसरों के हित के लिये ही होता है इसलिये बाद में यह भी समझा जाने लगा कि जो भी इस तरह अभ्यास करे वह बुद्ध हो सकेगा। इस तरह बुद्धत्व-प्राप्ति धार्मिक-त्याग-तप-उत्सर्ग का परम लक्ष्य बन गई। और पुराना लक्ष्य राग या तृष्णा को दूर करना कितने ही लोगों को बहुत उत्तम न जंचा और उन्हें बुद्धत्व-प्राप्ति और तृष्णा-निरोध के मार्ग में विरोध दिखाई देने लगा। इस विरोध को पालने का यत्न भी हुआ (सद्धर्मपुण्डरीक, उपाय कौशल्य परिवर्त) पर सफल न हो पाया। और बुद्धत्व प्राप्ति के साधन-भूत पारमिताओं के अभ्यास को महायान और बुद्धयान कहकर तथा तृष्णा-निरोध को लक्ष्यकर साधना करनेवालों को श्रावकयान और प्रत्येकबुद्धयान ही नहीं कहा, हीनयान कहा तथा ख़ूब मज़ाक भी उड़ाया। अष्टसाहस्रिका में कहा है: 'जैसे कुत्ता मालिक का दिया पिण्ड छोड़कर नौकर के कौर को ढूंढता फिरता है वैसे ही.. कितने ही लोग सर्वज्ञ ज्ञान की मूल प्रज्ञा-पारमिता को छोड़ शाखा, पत्ती और पयार (=पलाल) जैसे श्रावक और प्रत्येकबुद्ध यान को ढूढते फिरेंगे (पृष्ठ २७४)।' आगे चलकर फिर कहा है: 'जिन सूत्रोंमें बोधिसत्त्वयान का वर्णन नहीं है सिर्फ़ "आत्मदमशमक (=अपने आपका दमन शमन करनेवाले) परिनिर्वाणम्" का ही वर्णन है वे श्रावक, प्रत्येकबुद्ध की साधना को बतानेवाले हैं। बोधिसत्त्व को चाहिए कि उनकी ओर ख़्याल भी न करे (पृष्ठ २७६)।' यहां दो बातों की ओर ध्यान बिना गए नहीं रहता। आरम्भ में यद्यपि 'आत्मदमशमक निर्वाण' पर बहुत ज़ोर दिया जाता था पर धर्म के साधक बाह्य जगत् से उदासीन न रहते थे। बहुजन-हित और बहु-जन-सुख के लिये उपदेश देते थे पर उन उपदेशों की ध्वनि केवल व्यक्तिगत जीवन का विकास था। दान पुण्य आदि जो लोग करते थे वह व्यक्तिगत जीवन को, जिसकी उन्हें परलोक में आशा थी, सुखमय बनाने के लिये करते थे पर बुद्धत्वप्राप्ति लक्ष्य होने पर धर्मकर्म, दान पुण्य सभी प्राणिहित की दृष्टि से करने का विचार जागरूक

हुआ पर इससे व्यक्तिगत उन्नति का ध्येय सर्वथा हटा नहीं। पारमिताओं का अभ्यास करके भी अपने आपको बुद्ध बनाने का भाव भी व्यक्ति के विकास का ही प्रतीक है। पर इससे दूसरी बात जो हुई वह यह कि साधना का विषय अपना अपना शरीर न रहकर समाज का शरीर बन गया। दूसरों की भलाई करने के प्रति अपनी भलाई को भूल जाने का ख्याल उत्पन्न हुआ। यद्यपि, व्यवहार में यह बात न हो सकी और सम्भव भी न थी। भारत की समाज-व्यवस्था इस योग्य न थी कि लोग अपनेको भूलकर सब समाज की बात सोचते। पर सिद्धान्ततया इस बात को स्वीकार कर लिया गया। सिद्धान्त के रूप में यह बात माननेवालों को भी धार्मिक लोगों ने खूब बढ़ावा दिया। उस बढ़ावे का वर्णन करने से पहले यहां बुद्धत्व-प्राप्ति के लिये पक्षपात रखनेवाले साधकों के दो विभागों को जान लेना बहुत ज़रूरी है। इन पक्षपातियों में एक वे लोग होते हैं जो बुद्धत्व-प्राप्ति का संकल्प या इच्छा तो करते हैं पर उसके लिये प्रयत्न नहीं करते। दूसरे वे जो प्रयत्न भी करते हैं। दूसरी तरह के लोग (जो पर-हित के लिये अपना हित भूल जाए और पारमिताओं का अभ्यास करने लगें) निश्चय ही थोड़े मिलेंगे। पर इस सिद्धान्त के प्रति पक्षपात रखनेवालों और कोरी इच्छा करनेवालों की सख्या ज्यादा मिल सकती है। और उसके साथ यदि यह प्रलोभन भी धर्म के नेता दे दें कि इस प्रकार की इच्छा या सकल्प से बहुत पुण्य होता है तब तो इस तरह की इच्छा से किसी को मुँह फेरने की ज़रूरत नहीं है। ठीक यही बात हुई भी। एक राजा के प्रति सम्बोधन करते कहा गया है: 'सम्यक् सम्बोधि या बुद्धत्व प्राप्ति के लिये उत्पन्न सकल्प के पुण्य फल से सैकड़ों बार तुम देवताओं में उत्पन्न हुए। सैकड़ों बार मनुष्यों में उत्पन्न हुए। देवताओं और मनुष्यों के सभी जन्मों में आधिपत्य ही करते रहे।' (शिक्षासमुच्चय पृष्ठ ९-१० पर अपर राजाववादक सूत्र का उद्धरण)। बुद्धत्व प्राप्ति के सकल्प-मात्र से देवताओं और मनुष्यों का अधिपत्य पाने के लिये भला कौन लालायित न होगा?

इस तरह जब बुद्धत्व-प्राप्ति लक्ष्य बन गई और उस लक्ष्य की ओर बढ़नेवालों के लिये बोधिसत्त्व शब्द इस्तेमाल होने लगा तथा बुद्ध के जीवन के साथ उनके पूर्व जन्मों की—उनकी बोधिसत्त्वावस्था की कहानियाँ प्रचलित हुईं तब कल्पना ने थोड़ा और ज़ोर मारा। एक बुद्ध और बोधिसत्त्व से लोगों की तृप्ति न हुई। अनेकों अतीत बुद्धों की कल्पना हुई जिनका प्राथमिक सग्रह बुद्धवंश में है और उन बुद्धों को बुद्ध (शाक्यमुनि) के साथ मिलाने के लिये यह भी कहा गया कि उन्होंने उनकी अपने पूर्व जन्म में सेवा की थी। बुद्धों की ही नहीं अनेक बोधिसत्त्वों की कल्पना भी हुई। अतीत को ही नहीं बल्कि अनागत समय को भी इन बातों से बाँध दिया गया। जिस तरह विष्णु के बारे में ख्याल किया जाता है कि वे कल्कि

रूप में अवतरित होंगे वैसे ही बौद्धों में यह ख्याल किया जाता है कि बोधिसत्त्व मैत्रेय जो आज तुषित लोक में हैं, आगे चल कर बुद्ध होंगे।

जो कुछ इस जगह कहा गया उसका सार इतना ही है—

(१) आरम्भिक बौद्ध धर्म-साधना का रूप तृष्णा-निरोध था जो व्यक्तिगत ही था। पर इन साधकों की प्रवृत्ति संसार के हित के लिये थी। महात्मा होने के कारण बुद्ध में लोकोत्तर बातों का विश्वास किया जाता था।

(२) दूसरी भी भलाई करने की शिक्षा देने वाली कहानियाँ उपदेशों में सुनाई जाती थीं और बाद में वे बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाएं समझी जाने लगीं तथा यह ख्याल किया जाने लगा कि पारमिताओं के अभ्यास से मनुष्य बुद्ध हो सकता है।

(३) इसके बाद अनेक बुद्धों और बोधिसत्त्वों की कल्पना उत्पन्न हुई। अनेकों बुद्ध हो चुके हैं और होंगे, यह ख्याल पक्का हुआ।

आरम्भिक बौद्ध-साधना ने तीन अलग अलग रूप थोड़े दिनों में नहीं लिए। शुरू शुरू में बहुत दिन तक वे अलग अलग नहीं हो सके थे। महायान-साधना के समर्थक साहित्य की रचना होने के साथ साथ उनका परस्पर भेद दृढ़ होता गया। बुद्ध के निर्वाण के बाद की पचशती के अन्त तक यह सब पक्का हो चका था।

ग—सत्य और उनका विवेचन

बुद्ध के प्रवचनों में कितनी ही बातें ऐसी भी कही गई हैं जो कि उस समय के लोक-व्यवहार में प्रचलित थीं। उनके बारे में कहा गया है कि जो वे "लौकिक संज्ञाएं हैं—लौकिक निरुक्तियां हैं—लौकिक व्यवहार हैं—लौकिक प्रज्ञप्तियां है, तथागत इनसे बिना लिप्त हुए, व्यवहार करते हैं।" (बुद्धचर्या, पृष्ठ १९९)

बाद में चलकर यह विषय बुद्धिमानों के विचार का विषय बन गया कि बुद्ध ने कौन कौन बातें लौकिक व्यवहार के अनुरोध से कहीं है और कौन बातें उनकी अपनी हैं। चार आर्य सत्यों का भी इस दृष्टि से विचार हुआ। सभी कुछ दुःख है, यह बुद्ध का विचार था। सभी कुछ का वर्गीकरण रूप (=मैटर), वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धों में किया गया है। इनमें विज्ञान से अभिप्राय मन से है—चित्त से है। वेदना, संज्ञा और संस्कार चित्त के विषय—'चैतसिक' कहलाते हैं। इस तरह यह सख्या घटकर तीन ही रह जाती है। इनमें चित्त और चैतसिक सूक्ष्म हैं—कोई भी स्थान नहीं घेरते-इसलिये इन्हें "नाम" कहा जाता है।

यों यह संख्या दो ही रह जाती है। पर इतनी कम संख्या से हमारा काम नहीं चल सकता इसलिये हम चित्त, चैतसिक और रूप इन तीनों से ही यहां काम लेंगे, नाम और रूप दो से नहीं। इन तीनों के प्रति तृष्णा ही दुःख का कारण है। तृष्णा का त्याग या वैराग्य दुःख का निरोध है। तृष्णा के त्याग या दुःख-निरोध की ओर ले जानेवाला मार्ग ही अष्टांगिक मार्ग है। इन चार सत्यों को बुद्ध ने आर्य सत्य या श्रेष्ठ सचाई कही है पर बाद में दो सचाइयों की ही विशेषरूप से चर्चा रह गई। महायान सूत्रों में दो सत्यों की चर्चा जगह जगह पर मिलेगी। बुद्ध के परवर्ती आचार्य भी दो ही सत्यों की चर्चा करते दिखाई पड़ेंगे। इन दो सत्यों में पहला सत्य 'सवृतिसत्य' या व्यवहार-सत्य कहलाता है। बुद्ध जिसे 'लोकप्रज्ञप्ति' कहते थे वही असल में सवृति सत्य है। दूसरा सत्य परमार्थ सत्य है। स्थविरवादियों के पिटक में परमार्थ सत्य का विभागकर कोई बात नहीं कही गई है पर महायान सूत्रों में इस शब्द का प्रयोग हुआ है (बोधिचर्यावतार, पृष्ठ ३६१)।

इन सत्यों में मार्गसत्य या अष्टांगिक मार्ग व्यवहार सत्य ही समझा जाता था। वस्तुतः वह है भी व्यवहार की चीज़। तृष्णा मानसिक धर्म है जो दुःख का कारण है। इसको चैतसिक धर्मों में शामिल कर लेने से चित्त, चैतसिक, और रूप यह तीन तथा तृष्णा का निरोध या निर्वाण कुल चार बातें व्यवहार-सत्य की चीज़ें है या परमार्थ-सत्य की चीज़ें है, इस बात पर अलग अलग विचार हैं।

अनुरूद्ध ने चारों को परमार्थ-सत्य माना है—

तत्थवुत्ताभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो।
चित्त चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा॥ अभिधम्मत्थसगगह १।१

प्रज्ञाकरमति ने बोधिचर्यावतार के नवें परिच्छेद, प्रज्ञा पारमिता की टीका में दूसरी कारिका के प्रसङ्ग में इस बात की चर्चा की है: (प्रश्न) अभिधर्म में भगवान् ने चार (आर्य) सत्य कहे हैं फिर दो सत्यों के मानने की बात कैसे? (उत्तर) चार सत्यों का दो के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। दुःख-निरोध सत्य ही परमार्थ-सत्य है बाक़ी तीन सत्य व्यवहार रूप होने से सवृति-सत्य हैं।

नागार्जुन का ख़्याल था कि व्यवहार और परमार्थ की कोई सीमा बांधना ठीक न होगा। व्यवहार और परमार्थ में जो भेद दिखाई पड़ता है वह एक दूसरे की अपेक्षा से ही है। इसीलिये उन्होंने कहा है कि उत्पाद और निरोध तथा ससार और निर्वाण परमार्थतया नहीं है। (महायान-विशंक, २.१४)।

इस तरह व्यवहार और परमार्थ की जो चर्चा चली उनका मूल बुद्धवचनों में ही था। हीनयान सूत्रों में कम, महायान सूत्र में ज़्यादा। परवर्ती विचारकों ने इन दोनों सत्यों पर ज्यों ज्यों विचार किया त्यों त्यों वे अस्पष्ट होते गए। इस अस्पष्टता से बचने का एक ही साधन था कि व्यवहार और परमार्थ में कोई भेद ही न किया जाए जैसा कि नागार्जुन ने किया। पर इतने से व्यवहार में काम नहीं चल सकता। कितनी ही बातों में सर्वसाधारण लोगों का ख़्याल कुछ दूसरा होता है तथा विचारकों का ख़्याल कुछ दूसरा। शुरू शुरू में विचारकों के उन विचारों को जो साधारण लोगों के व्यवहार से परे होते थे, अलग करने के लिये 'परमार्थ-सत्य' शब्द का उपयोग हुआ। पुराने युग में यह ख़्याल किया जाता था कि साधारण लोगों की अपेक्षा योगी लोग विशेषज्ञ होते हैं। इन योगियों की बातें बहुधा लोक व्यवहार के विरुद्ध हुआ करती थीं पर लोग उन्हें पहुँचा हुआ मान कर उनकी बातों को श्रद्धा के साथ देखा करते थे और समझते थे कि उनकी लोक-विरोधी बातें ही परमार्थ सत्य हैं। योगी लोग भी एक तरह की बात न कहते थे उनकी बातों में भी परस्पर विरोध रहता था। उन विरोधी बातों की संगति लगाने का तब तक कोई भी उपाय न था। जब तक यह न मान लिया जाए कि उनमें एक कम पहुँचा हुआ है और एक ज्यादा पहुँचा हुआ है। यही किया भी गया। धार्मिक सम्प्रदायों के भीतर हर एक अपने अपने आचार्यों को अधिक पहुँचा हुआ मानते थे फलतः उन्हें अपने आचार्यों की बातें परमार्थ-सत्य तथा दूसरों की बातें अपरमार्थ-सत्य लगा करती थीं। पर सिर्फ़ इतने भर से बुद्धि को सन्तोष नहीं होता। संवृति और परमार्थ के विषय में जिज्ञासा बनी ही रहती है। इसलिये बाद में बुद्धि को थकाने का भी जतन किया गया। नागार्जुन का विचार कि संवृति और परमार्थ में रेखा न खींची जाए बहुत कुछ बुद्धि को विश्राम देता था। जिन बातों को लोग परमार्थ सत्य समझते थे उनकी परमार्थता से इनकार कर देना बहुत कुछ दिमाग़ी उलझनों से बचा लेता था पर लोगों को सरल बात से तथा उस बात से, जो उनकी समझ में आ जाए, पूरी तृप्ति नहीं होती; फलतः परमार्थ को कितने लोगों ने बुद्धि से अगोचर (बोधि-चर्यावतार ९।११) बताकर उनकी बुद्धि को हमेशा के लिये उलझने की सामग्री दे दी। अनेक प्रकार के विरोधी विशेषणों से परमार्थ का वर्णन होने लगा। वे सब वर्णन समझ में न आने पर भी बड़े रोचक हैं। बानगी के तौर पर असङ्ग का यह श्लोक बहुत काफ़ी है—

न सन्न चासन्न तथा न चान्यथा न जायते व्येति न चावहीयते।
न वर्द्धते नापि विशुद्ध्यते पुनर्विशुद्ध्यतेतत्परमार्थलक्षणम्॥

महायान सूत्रालङ्कार ६।१

छः पारमिताओं का चार वर्गों में विभाजन असग ने किया है (महायान-सूत्रालंकार १६।७)। तीन शिक्षाओं के भीतर सभी बुद्ध की शिक्षाओं विभक्त करना बहुत हो पुराना ढंग है। बुद्ध ने स्वय भी अपनी शिक्षाओं को तोन भागों में बांटा है। जिसके साथ एक सच्ची घटना भी जुड़ी हुई है।

एक समय भगवान् वैशाली के महावनस्थित कूटागार-शाला में विहार करते थे। उस समय एक वज्जिदेशीय भिक्षु भगवान् के पास आया और उनको अभिवादन करके एक ओर बैठ गया और भगवान् से बोला, "हर पक्ष में डेढ़ सौ से अधिक शिक्षा पदों का पाठ किया जाता है। भन्ते, मैं उनको सीख नहीं सकता।"

"भिक्षु, क्या तुम केवल अधिशील शिक्षा, अधिचित्त शिक्षा और अधिप्रज्ञा शिक्षा, ये तीन शिक्षाए सीख सकते हो ?"

"हाँ भन्ते, इन तीन शिक्षाओं को तो सीख सकता हूँ।"

"तो तुम इन तीनों को सीखो। इनके सीखने से तुम्हारे राग, द्वेष, और मोह का प्रहाण (नाश) होगा। राग, द्वेष और मोह के प्रहाण के बाद तुम अकुशल कर्म नहीं करोगे, और तुम पाप की तरफ़ नहीं जाओगे।" धर्मदूत (कोसबी जी का लेख, अक्टूबर १९४३)

बुद्धवंश की दस पारमिताओं की ज़रा ध्यान से छान-बीन करें तो उनका अन्तर्भाव छः पारमिताओं के भीतर ही हो जाता है। वे नैष्काम्य या काम भोगों की ओर न झुकना तथा सत्य शील से अतिरिक्त नहीं हैं। मैत्री और उपेक्षा एक तरह के ध्यान ही हैं, जिनके बारे में ब्रह्म-विहारों का वर्णन करते समय कहा जाएगा। अधिष्ठान या दृढ़ सकल्प का भी वीर्य के भीतर सरलता से समावेश हो सकता है। इस तरह छ· पारमिताओं का विभाजन कम नहीं है और न इनकी संख्या अधिक बढ़ाने की ही अपेक्षा है। इन छः पारमिताओं के अतिरिक्त उपाय, प्रणिधान, बल और ज्ञान इन चार पारमिताओं की भी महायान ग्रन्थों में चर्चा है। इनमें ज्ञान का प्रज्ञा के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। उपाय, प्रणिधान (संकल्प), और बल भी वीर्य से अतिरिक्त नहीं हैं।

असग ने इन छः पारमिताओं का निर्वचन किया है। दान-पारमिता दारिद्र्य को दूर करती है। शील-पारमिता विषयनिमित्तक क्लेशरूपी आग को ठंढा करती है। क्षान्ति पारमिता क्रोध का क्षय करती है। वीर्य-पारमिता वर या कुशल धर्मों से जोड़ती है। ध्यान पारमिता मन को धारण करती है। प्रज्ञा-पारमिता से परमार्थ का ज्ञान होता है। (महायान सूत्रालकार १६।१३)।

बोधिसत्त्व इन पारमिताओं का अभ्यास प्राणियों की सद्वृत्तियों को पक्का करने के लिये

करता है। दानपारमिता का अभ्यास करते हुए बोधिसत्त्व के पास जो कुछ होता है, वह उसके उत्सर्ग के लिये तैयार रहता है। नारायणपरिपृच्छा में बताया गया है कि "जिस तरह कोई लोग भैषज्य वृक्ष की जड़ ले जाते हैं, कोई शाखाएं, कोई पत्तियां, कोई पुष्प और कोई फल ले जाते हैं, पर भैषज्यवृक्ष ख्याल तक नहीं करता कि लोग मेरा क्या लिए जा रहे हैं इसी तरह बोधिसत्त्व को चाहिए कि अपने को भैषज्यवृक्ष समझे और लोग जो कुछ ले जाना चाहते हैं, ले जाने दे (शिक्षासमुच्चय, २१)।

शीलपारमिता का अभ्यास करते हुए बोधिसत्त्व काय और वचन से पूरा सयम रखता है। इन शील या संयमों का विचार करते समय पहले सर्वसामान्य शील का ही विचार करना ठीक होगा। प्रत्येक बौद्ध के लिये आरम्भिक पाँच शील बहुत ज़रूरी हैं—

१. प्राणातिपात (या प्राणिहिंसा) से विरति।

२. अदत्तादान (या चोरी) से विरति।

३. काममिथ्याचार (या व्यभिचार) से विरति।

४. मृषावाद (या असत्यभाषण) से विरति।

५. सुरामेरयमद्य प्रमादस्थान (या मादक द्रव्यों की मादकता) से विरति।

यह पाँच शिक्षाएं सभी के लिये बहुत आवश्यक हैं। भिक्षु के लिए तो कामाचार की ही गुंजा-यश नहीं फिर काम मिथ्याचार से विरत रहने का प्रश्न ही कहाँ? उसे पूर्णतया ब्रह्मचर्य पालन करना ज़रूरी है।

बौद्धों के पालि और संस्कृत दोनों साहित्यों में दस कुशल कर्मपथों की चर्चा है—

१. प्राणातिपात (या प्राणिहिंसा) से विरति।

२. अदत्तादान (या चोरी) से विरति।

३. काममिथ्याचार (या व्यभिचार) से विरति।

४. मृषावाद (या असत्यभाषण) से विरति।

५. पिशुन वाक् (या चुगली) से विरति।

६. परुषवाक् (या कटुवचन) से विरति।

७. सम्प्रलाप (या बकवाद) से विरति।

८. अनभिध्या (या अति लोभ) से विरति।

९. अव्यापाद (या वैमनस्य) से विरति।

१०. सम्यग्दृष्टि (या मिथ्यादृष्टि) से विरति।

इनमें अनभिध्या, अव्यापाद और सम्यग्दृष्टि का सम्बन्ध मन से है।[1] यहाँ हमें केवल

शरीर और वाचा के शीलों का विचार करना है, इसलिये उनसे कुछ प्रयोजन नहीं। बाकी सात को आदि-ब्रह्मचर्य-शील कहते हैं। आदिब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्मचर्य की नींव। यह शील सबके लिये एक जैसे हैं। हाँ, भिक्षुओं के लिये काममिथ्याचार के परित्याग की जगह पूरे तौर पर कामाचार के परित्याग का नियम है।

पंचशील और आदिब्रह्मचर्यक शील—इन दोनों का किसी प्रसंग में त्याग न करना अधिशीलशिक्षा है। इसी को 'पटिसम्भिदा' में अपर्यन्तशील कहा है।

सपर्यन्तशील कौन-सा है? लाभपर्यन्तशील, यश.पर्यन्तशील, बान्धवपर्यन्तशील, अंगपर्यन्तशील और प्राणपर्यन्तशील ये सपर्यन्तशील हैं। लाभपर्यन्तशील कौन-सा है? इस संसार में कई लोग लाभ के हेतु, लाभ के कारण गृहीत शिक्षापद का उल्लंघन करते हैं। यश.पर्यन्तशील कौन-सा है? इस संसार में बहुत से लोग यश के हेतु, यश के कारण गृहीत शिक्षापद का उल्लङ्घन करते हैं। बान्धवपर्यन्तशील कौन-सा है? इस संसार में अनेक लोग बान्धव हित के हेतु, बान्धव हित के कारण गृहीत शिक्षापद का उल्लङ्घन करते हैं। अङ्गपर्यन्त शील कौन-सा है? इस संसार में कई लोग अङ्गरक्षा के हेतु, अङ्गरक्षा के कारण गृहीत शिक्षापद का उल्लङ्घन करते हैं। प्राणपर्यन्तशील कौन-सा है? इस संसार में बहुत से लोग अङ्गरक्षा के हेतु, अङ्गरक्षा के कारण गृहीत शिक्षापद का उल्लङ्घन करते हैं। यह है सपर्यन्त शील।

इसके विपरीत जिस शील का लाभ, यश, बान्धव, प्राण, अङ्ग के कारण परित्याग नहीं किया जाता, वह है अपर्यन्त शील; वह मर्यादित नहीं है। यह है अधिशीलशिक्षा जिसका कि बुद्ध ने उपदेश दिया है और जिसका उनके अनुयायी बोधिसत्त्वों को बिना अपवाद के पालन करना आवश्यक है।

शिक्षासमुच्चय में उद्धृत सद्धर्मस्मृत्युपस्थान में इन कुशल कर्मपथों के विपरीत करने से नरक का भय दिखाया गया है। नरक का भय दिखाकर लोगों को अधर्म से रोकना तथा स्वर्ग का प्रलोभन देकर धर्म की ओर प्रेरित करना सब धर्मों के लिये साधारण बात है। उन सब नरकों की पीड़ाओं का जो कुशलकर्मपथ के विपरीत चलने पर मिलती हैं, वर्णन करना विशेष रोचक बात नहीं है और न उनमें कोई नवीनता ही है। सिर्फ़ नरक में किस अकुशलकर्मपथ का क्या दण्ड मिलता है इसकी एक सारणी बना लेना ठीक रहेगा—

अकुशल कर्मप	नरक में दण्ड
प्राणातिपात (प्राणिबध)	नारकीय पक्षियों द्वारा अङ्ग अङ्ग का भक्षण किया जाना।
अदत्तादान (चोरी)	यम पुरुषों द्वारा अङ्ग अङ्ग का काटा जाना।

काममिथ्याचार (व्यभिचार)	लोहे की स्त्रियों द्वारा चबाया जाना।
मृषावाद (असत्यभाषण)	यमपुरुषों द्वारा जीभ का हल से जोता जाना।
पैशुन्य (चुगली)	यमपुरुषों द्वारा जीभ का तलवार से काटा जाना।
सभिन्न प्रलाप	पिघले तांबे का पिलाया जाना।
पारुष्य	प्राणी की जिह्वा काटकर उसे खिलाना।
अभिध्या	नरक में धन देख उसके लिये लड़ लड़कर टुकड़े टुकड़े हो जाना।
व्यापाद	हिंसक प्राणियों द्वारा खाया जाना।
मिथ्यादृष्टि	अग्निदाह।

नरकों की इस दण्डव्यवस्था से रोमांच हुए बिना नहीं रहता। पर इस तरह के दण्ड और अत्याचार उस पूर्व युग में मनुष्य को सहने भी पड़ते थे। और आज भी उस तरह के अत्याचारों और कड़े दण्डों की बीच बीच में कभी कभी पुनरावृत्ति हो जाती है। नरक के भयों को दिखाकर बुराइयों को एक ओर धार्मिक लोग रोकते थे तथा दूसरी ओर राजा लोग कितने ही अपराधों पर नरकोपम दण्ड देकर जनता को भीत करते थे। पर दोनों तरह से शायद ही दुष्कर्म रोके जा सके हों। इन अकुशल कर्मों को लोग कितनी बार मजबूर होकर भी करते हैं। चक्रवर्ती सिंहनाद सूत्र (दीघनिकाय पृष्ठ २३३) में बुद्ध ने कहा है कि दरिद्रों के पास धन न होने से उनमें यह सब दुर्गुण आ जाते हैं—"चोरी, हत्या, असत्यभाषण, चुगली, व्यभिचार, कटुभाषण, बकवाद, अतिलोभ, दैमनस्य, मिथ्यादृष्टि, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा का अभाव।" बुद्ध इन सब दुराचारों की जड़ तक पहुँचे थे। दरिद्रता ही सब दुराचारों की जड़ है। दरिद्रता को बिना दूर किए मनुष्य के लिये दुर्गुणों और दुराचारों से बचना सम्भव ही नहीं। बोधिसत्त्वों की दानपारमिता का उद्देश्य दरिद्रता दूर करना ही है। दानपारमिता से मतलब उस तरह के दानों से नहीं है जिस तरह के दानों से लोग अपनी आमदनी के एक अल्पांश को देकर दानवीर होने का स्वांग रचते रहे हैं। शान्तिदेव ने दानपारमिता को समझाते हुए कहा है—

> फलेन सह सर्वस्वत्यागचित्ताज्जनेऽखिले।
> दानपारमिता प्रोक्ता तस्मात् सा चित्तमेव तु ॥ बोधिचर्यावतार, ५।१०

सब प्राणियों के लिये फल के सहित सर्वस्व त्याग करनेवाले चित्त से दानपारमिता की पूर्णता कही गई है, इसलिये वह चित्त ही है।

यदि चित्त का भाव इस तरह का हो जाए तो संसार का स्वरूप उस परिवार के समान हो सकता है जिसमें किसीके पास कुछ नहीं है और सबके पास सब कुछ है। बोधिसत्वों की दानपारमिता का आदर्श यही है। जितनी हद तक उस आदर्श पर पहुँचा जा सकेगा उतनी हद तक संसार में दरिद्रता से उत्पन्न बुराइयां दूर हो सकेंगी। और तब शीलपारमिता को पूरा करना अधिक से अधिक मात्रा में संभव हो सकेगा।

बोधिसत्त्व क्षान्तिपारमिता का अभ्यास करते हुए दूसरे के अपराधों को—दूसरे के अपकारों को—क्षमा कर देता है। किसी भी अवस्था में मन के भीतर विकार नहीं आने देता प्रत्युत सदा सब बातें सह लेता है और उद्विग्न नहीं होता। बुद्ध ने ककचूपमसुत्त (मज्झिमनिकाय पृष्ठ ७९) [क्रकचोपम सूत्र] में कहा है: "भिक्षुओ, चोर-लुटेरों द्वारा आरे से अङ्ग-प्रत्यगों के चीरे जाने पर भी जो मन को दूषित करे, वह मेरा शासनकर (उपदेशानुसार चलनेवाला) नहीं। वहां पर भी भिक्षुओ, ऐसा सीखना चाहिए: मैं अपने चित्त को विकारयुक्त न होने दूँगा और न दुर्वचन निकालूँगा, मैत्री भाव से हितानुकम्पी होकर विहरूँगा, न कि द्वेषपूर्ण चित्त से। उसको लक्ष्य (=आरम्भण) करके सारे संसार को विपुल विशाल, अप्रमाण मैत्रीपूर्ण चित्त से आप्लावित कर वैर और द्वेष से रहित हो विहरूँगा। भिक्षुओ, तुम्हें यही सीखना चाहिए।"

बोधिसत्त्व वीर्यपारमिता का अभ्यास करते हुए बहुश्रुत होने का प्रयत्न करता है, सदा प्रयत्नशील रहता है। बुद्ध ने कहा है—

य किंचि सिथिलं कम्मं संकिलिट्ठं च य वतं।
सकस्सर ब्रह्मचरियं न तं होति महप्फलम्॥ (धम्मपद २२।७)

अर्थात्, ढीले ढाले ढंग से किया गया काम, अशुद्ध व्रत, और अपवित्र ब्रह्मचर्य का फल महान् नहीं होता।

कयिर चे कयिराथेनं दल्हमेन परिक्कमे।
सिथिलोहि परिब्बाजो भिय्यो आकिरते रजं॥ (धम्मपद २२।८)

यदि करना है तो करे और खूब मेहनत से करे। ढीला-ढाला सन्यासी ज्यादा धूल उड़ाता है।

मन को शान्त रखने के लिये बोधिसत्त्व ध्यानपारमिता का अभ्यास करता है। शील पारमिता का अभ्यास ठीक ठीक सांसारिक जीवन के भीतर ही होता है। जंगल में रहते कौन शीलवान् नहीं हो सकता? पर ध्यानपारमिता का अभ्यास घर की अपेक्षा जंगल में अच्छी तरह से होता है। चन्द्रप्रदीपसूत्र (शिक्षासमुच्चय पृष्ठ १९५) में कहा है—

वनषण्ड सेवथ विविक्त सदा विजहित्व ग्रामनगरेषु रतिम् ।
अद्वितीय खड्गसम भोथ सदा न चिरेण लप्स्यथ समाधिवरम् ॥

अकेले जंगल का सेवन करो। गाँवनगरों का प्रेम छोड़ दो। बिना किसी दूसरे के सदा खड्ग (=गेंड़े के सींग) के समान बनो। इस तरह श्रेष्ठ समाधि मिलते देर न लगेगी।

विशुद्धिमार्ग में समाधिबाधक ये दस वस्तुएँ बताई गईं है—

आवासो च कुल लाभो गणो कम्म च पंचम।
अद्धान भाति आबाधो गन्थो इद्धीति ते दस ॥

आवास का अर्थ है रहने की जगह। उसकी गणना सूत्ररूपी इन गाथाओं में आई है—

महावास नवावास जरावास च पन्थनिं।
सोण्डि पण्णं च पुप्फ च फल पत्थितमेव च ॥
नगरं दारुना खेत्तं विसभागेन पट्टनं।
पच्चन्तसीमा सप्पाय यत्थ मित्तो न लब्भति ॥
अट्ठरसेतानि ठानानि इति विञ्ञाय पण्डितो।
आरका परिवज्जेय्य मग्गं पटिभय यथा ॥

यहां महावास से मतलब है महाविहार, जहां बहुत से भिक्षु तथा श्रामणेर रहते हैं। वहां सफ़ाई और धुलाई का काम करना पड़ता है। आसपास कोई ज़ोर ज़ोर से बोलने या सूत्र पाठ करने लगे तो मन एकाग्र करना कठिन है। इस प्रकार और अनेक उपद्रव उपस्थित होने से ऐसी जगह समाधि लगाना सम्भव नहीं।

नवावास का अर्थ है ऐसा स्थान जहा नया काम चालू हो। वहां बढ़ई, राजगीर आदि कर्मकारों से अनेक बाधाएँ पहुँचती रहती हैं। वे ईंट, पत्थर आदि पदार्थ इधर उधर नीचे गिराते हैं और उनकी आवाज़ से बीच बीच में समाधि भङ्ग होती है। चारों ओर इमारत का सामान पड़ा रहता है। ऐसी जगह कोई शान्तचित्त से चंक्रमण नहीं कर सकता। इस प्रकार नवावास में समाधि के लिये बड़ी रुकावटें होती हैं।

जरावास का अर्थ है जीर्णशाला या गृह। जो विहार या गृह पुराना हो गया है वह वर्षाकाल में चूता है। उसकी दीवार इधर उधर से फटती है। ज़मीन से दीमक निकलती है और चूहे उसमें बिल बनाते हैं। इस तरह विहार अथवा घर की मरम्मत करते करते परेशानी होती है। तब फिर उसमें बैठकर समाधि लगाने का अवसर कहां होगा?

पन्थनी का अर्थ है बड़ी सड़क के पास का विहार या भवन। उसके पास गाड़ीवाले

अपनी गाड़ियों को खड़ा करते हैं, राहगीर वहां विश्राम करते और आपस में बातचीत करते हैं। इसलिये इस प्रकार का विहार अथवा मकान समाधिभावना के योग्य नहीं।

सोण्डी का मतलब है टंकी या तालाब अथवा इसी प्रकार का दूसरा जलाशय जहां पानी पीने और स्नान करने के लिये लोग इकट्ठे होते हैं। ऐसे स्थान के पास के विहार अथवा मकान में योगाभ्यास करना शक्य नहीं।

पण्ण (पर्ण) का अर्थ है तरकारी के लिये उपयोगी पत्ती। जिस खेत में साग पैदा होता है वहां बच्चे और स्त्रियां साग तोड़ने आती हैं, वे वहां बात चीत करती और गाती हैं। इसलिये उसके पास के स्थान में योगाभ्यास करना मुश्किल है।

पुप्फ का अर्थ है फूलों का बगीचा। वहां भी उपरोक्त उपद्रव होते हैं।

फल का अर्थ है फलों का बगीचा। वहां भी अनेक उपद्रव होते हैं और पास के स्थान में बैठकर योगी समाधि भावना नहीं कर सकता।

पत्थित (प्रार्थित) का अर्थ है प्रार्थनीय जगह, जैसे बुद्ध गया, सारनाथ, कुशीनगर आदि। वहां बहुत से यात्री आते हैं। उन स्थानों के समीप जब कोई योगाभ्यास करने लगता है तब उसे सत्पुरुष समझकर यात्री लोग इकट्ठे होते हैं। अनेक प्रश्न पूछते हैं। आदर-सत्कार कर भेंट-पूजा चढ़ाते हैं। इससे वह चित्त एकाग्र करने में असमर्थ होता है।

नगर का अर्थ है शहर या उसके पास की जगह जहां गाड़ी, घोड़े और आदमियों का उपद्रव लगातार लगा रहता है।

दारु का अर्थ है इमारत बनाने में काम आनेवाली लकड़ी। जहां उस लकड़ी का जंगल है वहां लकड़हारे आकर हल्ला मचाते हैं। ऐसे जङ्गल के पास का स्थान भी योगाभ्यास के लिये विघ्नपूर्ण है।

खेत में जोतने, बोने और चिड़ियों को भगाने के लिये किसान आते और शोर मचाते हैं। इसलिये उसके आस पास का स्थान समाधि के योग्य नहीं।

विसभाग है परस्पर विरोधियों के रहने की जगह। वे दलबन्दी कर आपस में लड़ते रहते हैं। वहां किसी न किसी पक्ष की तरफ़ से कोई न कोई उपद्रव होता ही रहता है। अतः ऐसे निवास स्थान में समाधि साध्य नहीं।

पट्टन दो प्रकार का होता है, स्थलपट्टन और जलपट्टन। स्थलपट्टन है बड़ी हाट जहां गाँववाले सामान लाते और उसका क्रय-विक्रय करते हैं। जलपट्टन है बन्दरगाह। वहां भी उसी तरह का क्रय-विक्रय होता है। इस प्रकार पट्टन में भी खरीदने और लेने वालों के उपद्रव होते रहते हैं। इसलिये यह स्थान भी योगाभ्यास के लिये निषिद्ध है।

पर्व्वंत या प्रत्यन्त है जंगली प्रान्त जहां जंगली लोग रहते हैं। वे लोग योगाभ्यास की क़ीमत नहीं समझते। समाधिस्थ योगी के चारों ओर भी शिकार खेलने से वे नहीं हिचकते और उसकी समाधि में बाधा डालते हैं।

सीमा है राज्य की सीमा। उसके पास रहने से विरोधी राजा उसे गुप्तचर समझते हैं और कभी इस राजा से तो कभी उस राजा से उपद्रव पहुँचता है।

असप्पाय (असत्प्राय ?) है प्रतिकूल जगह जहां रहने से अनुकूल अन्न नहीं मिलता। कामविकार के लिये उत्तेजना मिलती है, और चित्त स्थिर नहीं होता।

मित्र से अभिप्राय है समाधि में मदद करनेवाला मित्र, जिसने स्वयं समाधि प्राप्ति की है। ऐसा मित्र समाधि के मार्ग में आनेवाले विघ्न को जानता है और उनको दूर कर सकता है। जहां ऐसा मित्र नहीं मिल सकता वहां समाधि की सिद्धि सुलभ नहीं।

इस प्रकार के अठारह स्थान सदोष समझे जाते हैं। किन्तु वे सब योगियों के लिये बाधक नहीं होते। असाधारण पुरुष विषम परिस्थिति में भी योगाभ्यास कर सकते हैं। इस विषय में विशुद्धि मार्ग में यह दृष्टान्त आया है—

लंका द्वीप में अनुराधपुर नगर के बाहर स्तूपाराम नाम का बड़ा विहार था। उसमें बहुत भिक्षु रहते थे। दो तरुण मित्रोंने गृह त्याग कर उस भिक्षुसंघ में प्रवेश किया। भिक्षुओं के नियमानुसार पाँच वर्ष तक उन्होंने विनय का अध्ययन किया। बाद में उनमें से जो छोटा था वह प्राचीनखण्डराजि नाम के दूर के गाँव में रहने लगा। वहां पाँच छः वर्ष रहकर फिर अपने मित्र से मिलने स्तूपाराम आया। ज्येष्ठ भिक्षु ने उसका अतिथि-सत्कार किया। सायंकाल का समय था। दोपहर के बाद भिक्षु लोग अन्न ग्रहण नहीं करते। लेकिन आम, नीबू आदि फलों का पानक (शरबत) बनाकर पीते हैं। कनिष्ठ भिक्षु यात्रा से थका हुआ था। उसने विचार किया कि विहार में तो किसी तरह का पानक अवश्य मिलेगा। किन्तु उसे पानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला। तब उसने सोचा कि मित्र के दायक विहार में आकर दान नहीं देते होंगे। कल सबेरे जब हम दोनों अनुराधपुर में भिक्षाटन करेंगे तब निश्चय ही अच्छे अच्छे खाद्य पदार्थ मिलेंगे।

दूसरे दिन दोनों मित्र शहर में भिक्षाटन करने गए। दोनों को थोड़ी सी यवागु (लपसी) मिली। एक आसनशाला (धर्मशाला) में बैठकर दोनों ने उसे पी लिया। तब कनिष्ठ के मन में आया कि शायद सुबह देनेवाला दायक नहीं होगा। किन्तु दोपहर को कोई न कोई उपासक अच्छा भोजन देगा। लेकिन दोपहर को भी अच्छा अन्न नहीं मिला। जो कुछ साधारण भिक्षा मिली उसे एक आसनशाला में बैठकर खा लिया और दोनों स्तूपाराम

छः पारमिताओं का चार वर्गों में विभाजन असग ने किया है (महायान-सूत्रालंकार १६।७)। तीन शिक्षाओं के भीतर सभी बुद्ध की शिक्षाओं विभक्त करना बहुत ही पुराना ढंग है। बुद्ध ने स्वय भी अपनी शिक्षाओं को तीन भागों में बाँटा है। जिसके साथ एक सच्ची घटना भी जुड़ी हुई है।

एक समय भगवान् वैशाली के महावनस्थित कूटागार-शाला में विहार करते थे। उस समय एक वज्जिदेशीय भिक्षु भगवान् के पास आया और उनको अभिवादन करके एक ओर बैठ गया और भगवान् से बोला, "हर पक्ष में डेढ़ सौ से अधिक शिक्षा पदों का पाठ किया जाता है। भन्ते, मैं उनको सीख नहीं सकता।"

"भिक्षु, क्या तुम केवल अधिशील शिक्षा, अधिचित्त शिक्षा और अधिप्रज्ञा शिक्षा, ये तीन शिक्षाए सीख सकते हो ?"

"हाँ भन्ते, इन तीन शिक्षाओं का तो सीख सकता हूँ।"

"तो तुम इन तीनों को सीखो। इनके सीखने से तुम्हारे राग, द्वेष, और मोह का प्रहाण (नाश) होगा। राग, द्वेष और मोह के प्रहाण के बाद तुम अकुशल कर्म नहीं करोगे, और तुम पाप की तरफ़ नहीं जाओगे।" धर्मदूत (कोसबी जी का लेख, अक्टूबर १९४३)

बुद्धवश की दस पारमिताओं की ज़रा ध्यान से छान-बीन करें तो उनका अन्तर्भाव छः पारमिताओं के भीतर ही हो जाता है। वे नैष्काम्य या काम भोगों की ओर न झुकना तथा सत्य शील से अतिरिक्त नहीं हैं। मैत्री और उपेक्षा एक तरह के ध्यान ही हैं, जिनके बारे में ब्रह्म-विहारों का वर्णन करते समय कहा जाएगा। अधिष्ठान या दृढ़ सकल्प का भी वीर्य के भीतर सरलता से समावेश हो सकता है। इस तरह छः पारमिताओं का विभाजन कम नहीं है और न इनकी सख्या अधिक बढ़ाने की ही अपेक्षा है। इन छः पारमिताओं के अतिरिक्त उपाय, प्रणिधान, बल और ज्ञान इन चार पारमिताओं की भी महायान ग्रन्थों में चर्चा है। इनमें ज्ञान का प्रज्ञा के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है। उपाय, प्रणिधान (सकल्प), और बल भी वीर्य से अतिरिक्त नहीं हैं।

असग ने इन छः पारमिताओं का निर्वचन किया है। दान-पारमिता दारिद्र्य को दूर करती है। शील-पारमिता विषयनिमित्तक क्लेशरूपी आग को ठढा करती है। क्षान्ति पारमिता क्रोध का क्षय करती है। वीर्य-पारमिता वर या कुशल धर्मों से जोड़ती है। ध्यान पारमिता मन को धारण करती है। प्रज्ञा-पारमिता से परमार्थ का ज्ञान होता है। (महायान सूत्रालकार १६।१३)।

बोधिसत्त्व इन पारामताओ का अभ्यास प्राणया का सद्वृत्तिया का पक्का करन क लिय

करता है। दानपारमिता का अभ्यास करते हुए बोधिसत्त्व के पास जो कुछ होता है, वह उसके उत्सर्ग के लिये तैयार रहता है। नारायणपरिपृच्छा में बताया गया है कि "जिस तरह कोई लोग भैषज्य वृक्ष की जड़ ले जाते हैं, कोई शाखाए, कोई पत्तियां, कोई पुष्प और कोई फल ले जाते हैं, पर भैषज्यवृक्ष ख़्याल तक नहीं करता कि लोग मेरा क्या लिए जा रहे हैं इसी तरह बोधिसत्त्व को चाहिए कि अपने को भैषज्यवृक्ष समझे और लोग जो कुछ ले जाना चाहते हैं, ले जाने दे (शिक्षासमुच्चय, २१)।

शीलपारमिता का अभ्यास करते हुए बोधिसत्त्व काय और वचन से पूरा सयम रखता है। इन शील या संयमों का विचार करते समय पहले सर्वसामान्य शील का ही विचार करना ठीक होगा। प्रत्येक बौद्ध के लिये आरम्भिक पाँच शील बहुत ज़रूरी हैं—

१. प्राणातिपात (या प्राणिहिंसा) से विरति।
२. अदत्तादान (या चोरी) से विरति।
३. काममिथ्याचार (या व्यभिचार) से विरति।
४. मृषावाद (या असत्यभाषण) से विरति।
५. सुरामेरयमद्य प्रमादस्थान (या मादक द्रव्यों की मादकता) से विरति।

यह पाँच शिक्षाएं सभी के लिये बहुत आवश्यक हैं। भिक्षु के लिए तो कामाचार की ही गुंजायश नहीं फिर काम मिथ्याचार से विरत रहने का प्रश्न ही कहाँ? उसे पूर्णतया ब्रह्मचर्य पालन करना ज़रूरी है।

बौद्धों के पालि और संस्कृत दोनों साहित्यों में दस कुशल कर्मपथों की चर्चा है—

१. प्राणातिपात (या प्राणिहिंसा) से विरति।
२. अदत्तादान (या चोरी) से विरति।
३. काममिथ्याचार (या व्यभिचार) से विरति।
४. मृषावाद (या असत्यभाषण) से विरति।
५. पिशुन वाक् (या चुगली) से विरति।
६. परुषवाक् (या कटुवचन) से विरति।
७. सम्प्रलाप (या बकवाद) से विरति।
८. अनभिध्या (या अति लोभ) से विरति।
९. अव्यापाद (या वैमनस्य) से विरति।
१०. सम्यग्दृष्टि (या मिथ्यादृष्टि) से विरति।

इनमें अनभिध्या, अव्यापाद और सम्यग्दृष्टि का सम्बन्ध मन से है। यहाँ हमें केवल

शरीर और वाचा के शीलों का विचार करना है, इसलिये उनसे कुछ प्रयोजन नहीं। बाक़ी सात को आदि-ब्रह्मचर्य-शील कहते हैं। आदिब्रह्मचर्य का अर्थ है ब्रह्मचर्य की नींव। यह शील सबके लिये एक जैसे हैं। हाँ, भिक्षुओं के लिये काममिथ्याचार के परित्याग की जगह पूरे तौर पर कामाचार के परित्याग का नियम है।

पंचशील और आदिब्रह्मचर्यक शील—इन दोनों का किसी प्रसग में त्याग न करना अधिशीलशिक्षा है। इसी को 'पटिसम्भिदा' में अपर्यन्तशील कहा है।

सपर्यन्तशील कौन-सा है? लाभपर्यन्तशील, यश.पर्यन्तशील, बान्धवपर्यन्तशील, अगपर्यन्तशील और प्राणपर्यन्तशील ये सपर्यन्तशील हैं। लाभपर्यन्तशील कौन-सा है? इस ससार में कई लोग लाभ के हेतु, लाभ के कारण गृहीत शिक्षापद का उल्लंघन करते हैं। यश.पर्यन्तशील कौन-सा है? इस संसार में बहुत से लोग यश के हेतु, यश के कारण गृहीत शिक्षापद का उल्लङ्घन करते हैं। बान्धवपर्यन्तशील कौन-सा है? इस ससार में अनेक लोग बान्धव हित के हेतु, बान्धव हित के कारण गृहीत शिक्षापद का उल्लङ्घन करते हैं। अङ्गपर्यन्त शील कौन-सा है? इस ससार में कई लोग अङ्गरक्षा के हेतु, अङ्गरक्षा के कारण गृहीत शिक्षापद का उल्लङ्घन करते हैं। प्राणपर्यन्तशील कौन-सा है? इस संसार में बहुत से लोग अङ्गरक्षा के हेतु, अङ्गरक्षा के कारण गृहीत शिक्षापद का उल्लङ्घन करते हैं। यह है सपर्यन्त शील।

इसके विपरीत जिस शील का लाभ, यश, बान्धव, प्राण, अङ्ग के कारण परित्याग नहीं किया जाता, वह है अपर्यन्त शील; वह मर्यादित नहीं है। यह है अधिशीलशिक्षा जिसका कि बुद्ध ने उपदेश दिया है और जिसका उनके अनुयायी बोधिसत्त्वों को बिना अपवाद के पालन करना आवश्यक है।

शिक्षासमुच्चय में उद्धृत सद्धर्मस्मृत्युपस्थान में इन कुशल कर्मपथों के विपरीत करने से नरक का भय दिखाया गया है। नरक का भय दिखाकर लोगों को अधर्म से रोकना तथा स्वर्ग का प्रलोभन देकर धर्म की ओर प्रेरित करना सब धर्मों के लिये साधारण बात है। उन सब नरकों की पीड़ाओं का जो कुशलकर्मपथ के विपरीत चलने पर मिलती हैं, वर्णन करना विशेष रोचक बात नहीं है और न उनमें कोई नवीनता ही है। सिर्फ़ नरक में किस अकुशलकर्मपथ का क्या दण्ड मिलता है इसको एक सारणी बना लेना ठीक रहेगा—

अकुशल कर्मपथ	नरक में दण्ड
प्राणातिपात (प्राणिवध)	नारकीय पक्षियों द्वारा अङ्ग अङ्ग का भक्षण किया जाना।
अदत्तादान (चोरी)	यम पुरुषों द्वारा अङ्ग अङ्ग का काटा जाना।

काममिथ्याचार (व्यभिचार)	लोहे की स्त्रियों द्वारा चबाया जाना।
मृषावाद (असत्यभाषण)	यमपुरुषों द्वारा जीभ का हल से जोता जाना।
पैशुन्य (चुगली)	यमपुरुषों द्वारा जीभ का तलवार से काटा जाना।
सभिन्न प्रलाप	पिघले तांबे का पिलाया जाना।
पारुष्य	प्राणी की जिह्वा काटकर उसे खिलाना।
अभिध्या	नरक में धन देख उसके लिये लड़ लड़कर टुकड़े टुकड़े हो जाना।
व्यापाद	हिंसक प्राणियों द्वारा खाया जाना।
मिथ्यादृष्टि	अग्निदाह।

नरकों की इस दण्डव्यवस्था से रोमांच हुए बिना नहीं रहता। पर इस तरह के दण्ड और अत्याचार उस पूर्व युग में मनुष्य को सहने भी पड़ते थे। और आज भी उस तरह के अत्याचारों और कड़े दण्डों की बीच बीच में कभी कभी पुनरावृत्ति हो जाती है। नरक के भयों को दिखाकर बुराइयों को एक ओर धार्मिक लोग रोकते थे तथा दूसरी ओर राजा लोग कितने ही अपराधों पर नरकोपम दण्ड देकर जनता को भीत करते थे। पर दोनों तरह से शायद ही दुष्कर्म रोके जा सके हों। इन अकुशल कर्मों को लोग कितनी बार मजबूर होकर भी करते हैं। चक्रवर्ती सिंहनाद सूत्र (दीघनिकाय पृष्ठ २३३) में बुद्ध ने कहा है कि दरिद्रों के पास धन न होने से उनमें यह सब दुर्गुण आ जाते हैं—"चोरी, हत्या, असत्यभाषण, चुगली, व्यभिचार, कटुभाषण, बकवाद, अतिलोभ, दौर्मनस्य, मिथ्यादृष्टि, गुरुजनों के प्रति श्रद्धा का अभाव।" बुद्ध इन सब दुराचारों की जड़ तक पहुँचे थे। दरिद्रता ही सब दुराचारों की जड़ है। दरिद्रता को बिना दूर किए मनुष्य के लिये दुर्गुणों और दुराचारों से बचना सम्भव ही नहीं। बोधिसत्त्वों की दानपारमिता का उद्देश्य दरिद्रता दूर करना ही है। दानपारमिता से मतलब उस तरह के दानों से नहीं है जिस तरह के दानों से लोग अपनी आमदनी के एक अल्पांश को देकर दानवीर होने का स्वाँग रचते रहे हैं। शान्तिदेव ने दानपारमिता को समझाते हुए कहा है—

फलेन सह सर्वस्वत्यागचित्ताज्जनेऽखिले।
दानपारमिता प्रोक्ता तस्मात् सा चित्तमेव तु ॥ बोधिचर्यावतार, ५।१०

सब प्राणियों के लिये फल के सहित सर्वस्व त्याग करनेवाले चित्त से दानपारमिता की पूर्णता कही गई है, इसलिये वह चित्त ही है।

यदि चित्त का भाव इस तरह का हो जाए तो संसार का स्वरूप उस परिवार के समान हो सकता है जिसमें किसीके पास कुछ नहीं है और सबके पास सब कुछ है। बोधिसत्त्वों की दानपारमिता का आदर्श यही है। जितनी हद तक उस आदर्श पर पहुँचा जा सकेगा उतनी हद तक संसार में दरिद्रता से उत्पन्न बुराइयाँ दूर हो सकेंगी। और तब शीलपारमिता को पूरा करना अधिक से अधिक मात्रा में संभव हो सकेगा।

बोधिसत्त्व क्षान्तिपारमिता का अभ्यास करते हुए दूसरे के अपराधों को—दूसरे के अपकारों को—क्षमा कर देता है। किसी भी अवस्था में मन के भीतर विकार नहीं आने देता प्रत्युत सदा सब बातें सह लेता है और उद्विग्न नहीं होता। बुद्ध ने ककचूपमसुत्त (मज्झिमनिकाय पृष्ठ ७९) [ककचोपम सूत्र] में कहा है : "भिक्षुओ, चोर-लुटेरों द्वारा आरे से अङ्ग-प्रत्यङ्गों के चीरे जाने पर भी जो मन को दूषित करे, वह मेरा शासनकर (उपदेशानुसार चलनेवाला) नहीं। वहां पर भी भिक्षुओ, ऐसा सीखना चाहिए : मैं अपने चित्त को विकारयुक्त न होने दूँगा और न दुर्वचन निकालूँगा, मैत्री भाव से हितानुकम्पी होकर विहरूँगा, न कि द्वेषपूर्ण चित्त से। उसको लक्ष्य (=आरम्भण) करके सारे संसार को विपुल विशाल, अप्रमाण मैत्रीपूर्ण चित्त से आप्लावित कर वैर और द्वेष से रहित हो विहरूँगा। भिक्षुओ, तुम्हें यही सीखना चाहिए।"

बोधिसत्त्व वीर्यपारमिता का अभ्यास करते हुए बहुश्रुत होने का प्रयत्न करता है, सदा प्रयत्नशील रहता है। बुद्ध ने कहा है—

यं किंचि सिथिलं कम्मं संकिलिट्ठं च य वतं।
सङ्कस्सरं ब्रह्मचरियं न तं होति महप्फलम्॥ (धम्मपद २२।७)

अर्थात्, ढीले ढाले ढंग से किया गया काम, अशुद्ध व्रत, और अपवित्र ब्रह्मचर्य का फल महान् नहीं होता।

कयिरं चे कयिराथेनं दल्हमेनं परिक्कमे।
सिथिलोहि परिब्बाजो भिय्यो आकिरते रजं॥ (धम्मपद २२।८)

यदि करना है तो करे और खूब मेहनत से करे। ढीला-ढाला सन्यासी ज़्यादा धूल उड़ाता है।

मन को शान्त रखने के लिये बोधिसत्त्व ध्यानपारमिता का अभ्यास करता है। शील पारमिता का अभ्यास ठीक ठीक सांसारिक जीवन के भीतर ही होता है। जंगल में रहते कौन शीलवान् नहीं हो सकता? पर ध्यानपारमिता का अभ्यास घर की अपेक्षा जंगल में अच्छी तरह से होता है। चन्द्रप्रदीपसूत्र (शिक्षासमुच्चय पृष्ठ १९५) में कहा है—

वनषण्ड सेवथ विविक्त सदा विजहित्व ग्रामनगरेषु रतिम्।
अद्वितीय खड्गसम भोथ सदा न चिरेण लप्स्यथ समाधिवरम् ॥

अकेले जंगल का सेवन करो। गाँवनगरों का प्रेम छोड़ दो। बिना किसी दूसरे के सदा खड्ग (=गैंड़े के सींग) के समान बनो। इस तरह श्रेष्ठ समाधि मिलते देर न लगेगी।

विशुद्धिमार्ग में समाधिबाधक ये दस वस्तुएँ बताई गई है—

आवासो च कुल लाभो गणो कम्म च पंचम।
अद्धान भाति आबाधो गन्थो इद्धीति ते दस ॥

आवास का अर्थ है रहने की जगह। उसकी गणना सूत्ररूपी इन गाथाओं में आई है—

महावासं नवावास जरावासं च पन्थनिं।
सोण्डि पण्णं च पुप्फ च फल पत्थितमेव च ॥
नगरं दारुना खेत्त विसभागेन पट्टनं।
पच्चन्तसीमा सप्पाय यत्थ मित्तो न लब्भति ॥
अट्ठरसेतानि ठानानि इति विञ्ञाय पण्डितो।
आरका परिवज्जेय्य मग्गं पटिभय यथा ॥

यहां महावास से मतलब है महाविहार, जहां बहुत से भिक्षु तथा श्रामणेर रहते हैं। वहां सफ़ाई और धुलाई का काम करना पड़ता है। आसपास कोई ज़ोर ज़ोर से बोलने या सूत्र पाठ करने लगे तो मन एकाग्र करना कठिन है। इस प्रकार और अनेक उपद्रव उपस्थित होने से ऐसी जगह समाधि लगाना सम्भव नहीं।

नवावास का अर्थ है ऐसा स्थान जहां नया काम चालू हो। वहां बढ़ई, राजगीर आदि कर्मकारों से अनेक बाधाएँ पहुँचती रहती हैं। वे ईंट, पत्थर आदि पदार्थ इधर उधर नीचे गिराते हैं और उनकी आवाज़ से बीच बीच में समाधि भङ्ग होती है। चारों ओर इमारत का सामान पड़ा रहता है। ऐसी जगह कोई शान्तचित्त से चंक्रमण नहीं कर सकता। इस प्रकार नवावास में समाधि के लिये बड़ी रुकावटें होती हैं।

जरावास का अर्थ है जीर्णशाला या गृह। जो विहार या गृह पुराना हो गया है वह वर्षाकाल में चूता है। उसकी दीवार इधर उधर से फटती है। ज़मीन से दीमक निकलती है और चूहे उसमें बिल बनाते हैं। इस तरह विहार अथवा घर की मरम्मत करते करते परेशानी होती है। तब फिर उसमें बैठकर समाधि लगाने का अवसर कहां होगा?

पन्थनी का अर्थ है बड़ी सड़क के पास का विहार या भवन। उसके पास गाड़ीवाले

अपनी गाड़ियों को खड़ा करते हैं, राहगीर वहां विश्राम करते और आपस में बातचीत करते हैं। इसलिये इस प्रकार का विहार अथवा मकान समाधिभावना के योग्य नहीं।

सोण्डी का मतलब है टंकी या तालाब अथवा इसी प्रकार का दूसरा जलाशय जहां पानी पीने और स्नान करने के लिये लोग इकट्ठे होते हैं। ऐसे स्थान के पास के विहार अथवा मकान में योगाभ्यास करना शक्य नहीं।

पण्ण (पर्ण) का अर्थ है तरकारी के लिये उपयोगी पत्ती। जिस खेत में साग पैदा होता है वहां बच्चे और स्त्रियां साग तोड़ने आती हैं ; वे वहां बात चीत करती और गाती हैं। इसलिये उसके पास के स्थान में योगाभ्यास करना मुश्किल है।

पुप्फ का अर्थ है फूलों का बगीचा। वहां भी उपरोक्त उपद्रव होते हैं।

फल का अर्थ है फलों का बगीचा। वहां भी अनेक उपद्रव होते हैं और पास के स्थान में बैठकर योगी समाधि भावना नहीं कर सकता।

पत्थित (प्रार्थित) का अर्थ है प्रार्थनीय जगह, जैसे बुद्ध गया, सारनाथ, कुशीनगर आदि। वहां बहुत से यात्री आते हैं। उन स्थानों के समीप जब कोई योगाभ्यास करने लगता है तब उसे सत्पुरुष समझकर यात्री लोग इकट्ठे होते हैं। अनेक प्रश्न पूछते हैं। आदर-सत्कार कर भेंट-पूजा चढ़ाते हैं। इससे वह चित्त एकाग्र करने में असमर्थ होता है।

नगर का अर्थ है शहर या उसके पास की जगह जहा गाड़ी, घोड़े और आदमियों का उपद्रव लगातार लगा रहता है।

दारु का अर्थ है इमारत बनाने में काम आनेवाली लकड़ी। जहां उस लकड़ी का जंगल है वहां लकड़हारे आकर हल्ला मचाते हैं। ऐसे जङ्गल के पास का स्थान भी योगाभ्यास के लिये विघ्नपूर्ण है।

खेत में जीतने, बोने और चिड़ियों को भगाने के लिये किसान आते और शोर मचाते हैं। इसलिये उसके आस पास का स्थान समाधि के योग्य नहीं।

विसभाग है परस्पर विरोधियों के रहने की जगह। वे दलबन्दी कर आपस में लड़ते रहते हैं। वहां किसी न किसी पक्ष की तरफ़ से कोई न कोई उपद्रव होता ही रहता है। अतः ऐसे निवास स्थान में समाधि साध्य नहीं।

पट्टन दो प्रकार का होता है ; स्थलपट्टन और जलपट्टन। स्थलपट्टन है बड़ी हाट जहां गाँववाले सामान लाते और उसका क्रय-विक्रय करते हैं। जलपट्टन है बन्दरगाह। वहां भी उसी तरह का क्रय-विक्रय होता है। इस प्रकार पट्टन में भी खरीदने और लेने वालों के उपद्रव होते रहते हैं। इसलिये यह स्थान भी योगाभ्यास के लिये निषिद्ध है।

पच्चंत या प्रत्यन्त है जगली प्रान्त जहां जगली लोग रहते हैं। वे लोग योगाभ्यास की क़ीमत नहीं समझते। समाधिस्थ योगी के चारों ओर भी शिकार खेलने से वे नहीं हिचकते और उसकी समाधि में बाधा डालते हैं।

सीमा है राज्य की सीमा। उसके पास रहने से विरोधी राजा उसे गुप्तचर समझते हैं और कभी इस राजा से तो कभी उस राजा से उपद्रव पहुँचता है।

असप्पाय (असत्प्राय ?) है प्रतिकूल जगह जहां रहने से अनुकूल अन्न नहीं मिलता। कामविकार के लिये उत्तेजना मिलती है, और चित्त स्थिर नहीं होता।

मित्र से अभिप्राय है समाधि में मदद करनेवाला मित्र, जिसने स्वयं समाधि प्राप्ति की है। ऐसा मित्र समाधि के मार्ग में आनेवाले विघ्न को जानता है और उनको दूर कर सकता है। जहां ऐसा मित्र नहीं मिल सकता वहां समाधि की सिद्धि सुलभ नहीं।

इस प्रकार के अठारह स्थान सदोष समझे जाते हैं। किन्तु वे सब योगियों के लिये बाधक नहीं होते। असाधारण पुरुष विषम परिस्थिति में भी योगाभ्यास कर सकते हैं। इस विषय में विशुद्धि मार्ग में यह दृष्टान्त आया है—

लंका द्वीप में अनुराधपुर नगर के बाहर स्तूपाराम नाम का बड़ा विहार था। उसमें बहुत भिक्षु रहते थे। दो तरुण मित्रोंने गृह त्याग कर उस भिक्षुसंघ में प्रवेश किया। भिक्षुओं के नियमानुसार पाँच वर्ष तक उन्होंने विनय का अध्ययन किया। बाद में उनमें से जो छोटा था वह प्राचीनखण्डराजि नाम के दूर के गाँव में रहने लगा। वहां पाँच छः वर्ष रहकर फिर अपने मित्र से मिलने स्तूपाराम आया। ज्येष्ठ भिक्षु ने उसका अतिथि-सत्कार किया। सायंकाल का समय था। दोपहर के बाद भिक्षु लोग अन्न ग्रहण नहीं करते। लेकिन आम, नीबू आदि फलों का पानक (शरबत) बनाकर पीते हैं। कनिष्ठ भिक्षु यात्रा से थका हुआ था। उसने विचार किया कि विहार में तो किसी तरह का पानक अवश्य मिलेगा। किन्तु उसे पानी के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला। तब उसने सोचा कि मित्र के दायक विहार में आकर दान नहीं देते होंगे। कल सबेरे जब हम दोनों अनुराधपुर में भिक्षाटन करेंगे तब निश्चय ही अच्छे अच्छे खाद्य पदार्थ मिलेंगे।

दूसरे दिन दोनों मित्र शहर में भिक्षाटन करने गए। दोनों को थोड़ी सी यवागू (लपसी) मिली। एक आसनशाला (धर्मशाला) में बैठकर दोनों ने उसे पी लिया। तब कनिष्ठ के मन में आया कि शायद सुबह देनेवाला दायक नहीं होगा। किन्तु दोपहर को कोई न कोई उपासक अच्छा भोजन देगा। लेकिन दोपहर को भी अच्छा अन्न नहीं मिला। जो कुछ साधारण भिक्षा मिली उसे एक आसनशाला में बैठकर खा लिया और दोनों स्तूपाराम

जाने को निकले। रास्ते में कनिष्ठ बोला—"भदन्त, क्या सदा आपको इसी प्रकार की ही भिक्षा मिलती है ?" जेष्ठ—"हाँ आयुष्मन्, मेरा नित्य का क्रम इसी प्रकार का है।" कनिष्ठ—"तब, आप प्राचीनखण्डराजि क्यों नहीं आते ? वहां तो अच्छा एकान्त है और लोग भी श्रद्धालु हैं।"

इस सवाद के बाद ज्येष्ठ भिक्षु ने अनुराधपुर का रास्ता छोड़कर कुम्भकार गांव का रास्ता ले लिया। तब कनिष्ठ बोला "भदन्त, अनुराधपुर का रास्ता छोड़कर इस मार्ग पर क्यों आए हैं।" ज्येष्ठ—"तुमने कहा कि प्राचीनखण्डराजि सुखावह है, और यही रास्ता वहां जाता है।" कनिष्ठ—"लेकिन भदन्त, स्तूपाराम में आपका कुछ सामान तो होगा ही।" ज्येष्ठ—"मेरे पास केवल एक चारपाई है। लेकिन वह मेरी निजी सम्पत्ति नहीं, संघ की है। हमेशा भिक्षाटन के लिये जाने से पूर्व मैं उसे व्यवस्था से रखता हूँ। बाक़ी सामान तो मेरे पास ही हैं। इसलिये विहार में जाने की ज़रूरत नहीं।" कनिष्ठ—"किन्तु भदन्त, मेरी छड़ी (कतरदण्ड), चप्पल की थैली, और तेलनालि वहीं हैं।" ज्येष्ठ—'वाह ! वाह ! तुमने एक रात में इतनी वस्तुएँ विहार में छोड़ दीं।"

कनिष्ठ बहुत शरमाया और ज्येष्ठ को नमस्कार कर बोला—"आप जैसे भिक्षुओं को प्राचीनखण्डराजि जाना आवश्यक नहीं है। स्तूपाराम जैसे बड़े स्थान में भी एकान्त मिलता है। इसके अतिरिक्त यहां अनेक धर्मकथिक धर्मोपदेश करते हैं और महास्थविरों के दर्शन मिलते हैं। इसलिये आप यहीं रहिए।" दूसरे दिन वह अपना पात्र चीवर लेकर प्राचीनखण्डराजि को चल दिया।

मज्झिमनिकाय के वनपत्थसुत्त में भगवान् ने कहा है "जहां चित्तसमाधि नहीं मिलती और खान पान का प्रबन्ध भी अच्छा नहीं रहता वहा योगी को एक क्षण भी नहीं रहना चाहिए। जहां खान पान का प्रबन्ध अच्छा है और चित्त एकाग्र नहीं होता वहां भी नहीं रहना चाहिए। जहां खाने पीने के पदार्थ बहुत कम मिलते हैं और उनके लिये तकलीफ़ उठानी पड़ती है, लेकिन चित्त समाधि मिलती है वहां शारीरिक कष्टों की परवाह न कर रहना चाहिए। जहां समाधि भी मिलती है और खाने पीने का प्रबन्ध भी अच्छा है उस स्थान को योगाभ्यास के लिये सबसे उत्कृष्ट समझना चाहिए। उत्कृष्ट स्थान वही है जहां योगी और अर्हत् लोग विहार करते हैं—"यत्थारहन्तो विहरन्ति तं भूमि रामणेय्यं।"

बोधिसत्त्व प्रज्ञा पारमिता का अभ्यास करता है। शुरू शुरू में कदाचित् प्रज्ञा से अभिप्राय बुद्धि-तीक्ष्णता और प्रत्युत्पन्नमतिता से था। जातकों में सत्तुभस्तजातक प्रज्ञापारमिता का उत्कृष्ट नमूना बताया गया है। उसमें प्रज्ञा से तात्पर्य तीक्ष्ण प्रतिभा से ही है। कहानी का सार यों

है।—एक बूढ़े ब्राह्मण ने नई शादी की। ब्राह्मण के घर रहते उसकी नवयुवती पत्नी को अपने मन के दोस्तों से हँसने-खेलने का मौक़ा न मिल पाता था इसलिये उसने सोचा कि ब्राह्मणदेवता को किसी-न-किसी तरह बाहर भेजना चाहिए। पत्नी के कहने से ब्राह्मणदेवता भिक्षाटन के लिये गए। उन्हें काफ़ी भिक्षा में धन मिला और उसे उन्होंने उसी झोले में डाल लिया जिसमें उनकी पत्नी ने दिन को खाने के लिये सत्तू दिए थे। लौटते वक्त उन्होंने एक नदी के किनारे सत्तू खाए और झोली वहीं छोड़ पानी पीने नदी में उतरे। पानी पी, हाथ मुँह धो जब तक झोले के पास पहुँचे तब तक सत्तू की गन्ध पा बाँबी से एक काला साँप झोले में घुस गया। ब्राह्मण देवता लौटे और झोले का मुँह रस्सी से बाँध चल पड़े। मनमें बड़े प्रसन्न थे कि आज इस धन को देखकर उनकी पत्नी बड़ी प्रसन्न होगी। रास्ते में एक वृक्षदेवता ने कहा यदि तुम शाम को कहीं ठहर जाओगे तो तुम मर जाओगे; यदि घर जाओगे तो तुम्हारी स्त्री मर जाएगी। ब्राह्मण देवता बड़े दुःखी हुए। रास्ते में बोधिसत्त्व की धर्मदेशना हो रही थी। यह भी पहुँचे पर मन ही मन इतने दुःखी थे कि उनकी तबीयत धर्मोपदेश से न बहली। धर्मदेशना समाप्त होने पर बोधिसत्त्व ने ब्राह्मण देवता से उनके दुःख का करण पूछा। उन्होंने वृक्षदेवता की बात बताई। बोधिसत्त्व ने ब्राह्मण से और सब बातें पूछीं। नदी पर सत्तू खाने की समूची घटना से बोधिसत्त्व को समझते देर न लगी कि ब्राह्मण देवता के झोले में ज़रूर कोई ऐसी चीज़ है जिससे मृत्यु हो सकती है। उन्होंने अनुमान किया कि ज़रूर साँप इनके झोले में घुस गया है और यह उसे झोले में बांधे घूम रहे हैं। यह जानकर बोधिसत्त्व ने झोले को खुलवाया। साँप उसमें से निकला। इस तरह ब्राह्मणदेवता की जान बची। बोधिसत्त्व ने इस कहानी में जिस प्रज्ञा का परिचय दिया वह प्रतिभा विशेष ही है।

प्रज्ञा से अभिप्राय हमेशा इस तरह की व्यवहारिक प्रतिभा से नहीं है। अष्टसाहस्रिका में प्रज्ञा के दार्शनिक रूप पर बहुत कुछ प्रकाश डाला गया है—

सुभूति—"भगवन्, प्रज्ञा पारमिता का क्या लक्षण है।"

भगवान्—"प्रज्ञा पारमिता असंगलक्षणा होती है। असंगलक्षणा होने से ही प्रज्ञा-पारमिता शून्य है और इसीलिये सब धर्म भी शून्य है।"

सुभूति—"यदि भगवन् सब धर्म शून्य है तब सत्त्वों (=प्राणियों) के संक्लेश (=मल) और व्यवदान (=शुद्धि) की बात क्यों कही जाती है।"

भगवान्—"क्या तुम समझते हो कि सत्त्व अहंकार और ममकार में भटकते रहते हैं।"

सुभूति—"हाँ भगवन्, सत्त्व अहंकार और ममकार में भटकते रहते हैं।"

भगवान्—"क्या तुम समझते हो कि अहंकार और ममकार शून्य हैं?"

सुभूति—"शून्य हैं भगवन्, शून्य हैं सुगत।

भगवान्—"क्या तुम समझते हो कि अहंकार और ममकार के कारण ही सत्त्व संसार में जन्मते-मरते हैं।"

सुभूति—"हाँ भगवन्, अहंकार और ममकार के कारण ही सत्त्व संसार में जन्मते और मरते रहते है।

भगवान्—"सत्त्वों का जैसा अभिनिवेश (=आग्रह) होता है वैसा ही संक्लेश होता है। अभिनिवेश न हो तो अहंकार और ममकार नहीं। इसी तरह व्यवदान की बात है (पृष्ठ ३९९-४००)।

यहाँ शून्य शब्द से घबराने की ज़रूरत नहीं है। शून्य से अभिप्राय किसी चीज़ के नाश, ध्वंस या अभाव से नहीं है। अष्ट साहस्रिका में इस बात से सावधान कराया कि कुछ लोग प्रज्ञा पारमिता की बहुत ग़लत बानगी (=प्रतिवर्णिका) पेश करते हैं—

"कुछ लोग प्रज्ञापारमिता की उलटी बानगी का उपदेश देते हैं। रूपविनाश को रूप की अनित्यता बतलाते हैं। इसी तरह वेदना, सत्ता, संस्कार, और विज्ञान के विनाश को उनकी अनित्यता बतलाते हैं। प्रज्ञा पारमिता की जो इस तरह खोज करता है, प्रज्ञापारमिता का अभ्यास करता है, यही प्रज्ञा पारमिता को उलटा बानगी है।

प्रज्ञापारमिता के प्रतिपादक साहित्य प्रज्ञापारमिता सूत्रों का इतिहास भी अष्टसाहस्रिका में बताया गया है। वह भी रोचक है—

"पश्चिमकाल पश्चिम समय (=पिछले युग=आनेवाले युग) में इस प्रज्ञापारमिता का विस्तार उत्तर दिशा में, उत्तर दिग्विभाग में होगा।

इस तरह के सूत्र तथागत के परिनिर्वाण के बाद दक्षिणापथ में प्रचार पाएंगे। फिर वर्तनी (मध्यदेश) में प्रचार पाएंगे। फिर उत्तरापथ में प्रचार पाएंगे।" (पृष्ठ २४५)

असंग ने इन पारमिताओं का बड़े अच्छे ढंग से विवेचन किया है (महायान सूत्रालंकार १६।८-१९ १-४)। उनके ख़्याल से पारमिताओं का अभ्यास निर्विकल्प ज्ञान के साथ करना चाहिए। निर्विकल्प ज्ञान से अभिप्राय उस ज्ञान से है जिसमें विकल्प बिल्कुल नहीं है—सन्देह-बुद्धि नहीं है। वह बुद्धि जो धर्मनैरात्म्य तक पहुँच जाती है, 'सब्बे धम्मा अनत्ताति' तक पहुँच जाती है। हर एक पारमिता का एक विरोधी पक्ष भी होता है, हर पारमिता का उद्देश्य होता है। विपक्षों को हटाकर उन उद्देश्यों को पूरा करने से बोधिसत्त्व प्राणियों का हित कर सकता है। प्राणियों का ही हित नहीं अपना हित भी करता है। यद्यपि बोधिसत्त्व का अपना हित कुछ है ही नहीं पर जो परार्थ ही को आत्मार्थ समझता है उसने यदि

परार्थ कर लिया तो वह आत्मार्थ ही है। असग जिसके विषय में जो कुछ कहा है उसका सार यों है—

पारमिताएं	उनसे प्राप्त अभ्युदय	उनके विपक्ष	उनके उद्देश्य
दान	भोगसम्पत्ति	स्वार्थ	प्राणियों की इच्छापूर्ति
शील	शरीर सम्पत्ति	दुराचार	कायवाक्सयम
क्षान्ति	परिचार सम्पत्ति (=बहुजन-प्रियता)	क्रोध	अपराधक्षमा
वीर्य	सर्वकर्मान्त सम्पत्ति (=कार्य में सफलता)	कौसीद्य (=अकर्मण्यता)	साहाय्य
ध्यान	क्लेशविष्कम्भन (=चित्तशुद्धि)	विक्षेप (चचलता)	मनोरथ (जानना)
प्रज्ञा	कृत्य में अविपर्यास (=कार्य में भूल न होना)	दुष्प्रज्ञा	सशय निवारण

विशेष सूचना—

उक्त छः पारमिताओं में से प्रथम तीन से बोधिसत्त्व क्रमश. त्याग, अनुपघात (=अहिंसा), अनमर्षण (=अक्रोध) द्वारा परार्थ साधन करता है और बाक़ी तीन से क्रमश. उद्योग, शान्ति और मुक्ति के द्वारा आत्मार्थ साधन करता है।

बोधिसत्त्व इन पारमिताओं का अभ्यास करते हुए दान पारमिता के अभ्यास के कारण भोगों के प्रति निरपेक्ष हो जाता है। शील पारमिता के अभ्यास से बोधिसत्त्व को शिक्षाओं में उसका आदर भाव बढ़ जाता है। क्षान्ति पारमिता के अभ्यास से प्राणियों और अप्राणियों द्वारा पहुँचाए गए दुःख से विचलित नहीं होता। वीर्य पारमिता के अभ्यास से पुण्य कर्म करते कभी उसे थकान नहीं आती। ध्यान पारमिता से उसका चित्त एकाग्र हो जाता है—उसे शमथ या शान्ति मिलती है। प्रज्ञा पारमिता के अभ्यास से विपश्यना की प्राप्ति होती है—वह समझता है कि ससार में सभी कुछ अनित्य, दुःख और अनात्म हैं। और यही समूचा महायान है—

भोगेषु चानभिरतिस्तीव्रा गुरुता द्वये अखेदश्च।
योगश्च निर्विकल्पः समस्तमिदमुत्तमयानम्॥ महायान सूत्रालकार १६।५

२—ब्रह्मविहार

ध्यान-पारमिता के अभ्यास के लिये जितना एकान्त हो उतना ही अच्छा रहता है। साधक कुछ समय एकान्त में रह कर ध्यान करके अपने चित को बहुत कुछ शान्त कर लेता है। पर यदि साधक सदा जंगल में ही रहते अपना जीवन बिता दे तो उससे प्राणिहित नहीं हो सकता। इस लिये उसे दुनिया के भीतर रहते हुए ही साधना करनी होती है। उसे ससार का ही आलम्बन बनाकर बोधि के लिये अभ्यास करना है। संसार के लोग अनेक तरह के हैं। कितने ही लोग साधारण कोटि के हैं जो सुख चाहते हैं। कुछ ऐसे हैं जो दु:ख से पीड़ित है और दु ख दूर करना चाहते हैं। कितने ही ऐसे हैं जो सुखी हैं और चाहते हैं कि उनका सुख बना रहे, छिन न जाए। कुछ ऐसे क्लिष्ट या मलिन स्वभाव के हैं कि सब तरह के अकर्म और कुकर्म करते हैं। इन चार तरह के लोगों को देख कर बोधिसत्त्व जिस तरह अपने मनमें भावना करता है उन्हें ही ब्रह्मविहार कहते हैं। ब्रह्म का अभिप्राय बड़े या महान् से है। महान् होने के कारण ही इस भावना को ब्रह्मविहार कहते हैं। इसी ब्रह्मविहार का दूसरा नाम अप्रमाण है। प्रमाण या माप जिनको नहीं हो सकती वे अप्रमाण कहलाते हैं।

ब्रह्मविहार या अप्रमाण चार हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा। इनमें मैत्री सुख से योग कराने की भावना है। करुणा दु:ख से छुड़ाने को भावना है। मुदिता सुख से अवियोग कराने की भावना है। उपेक्षा नि:क्लेशोपसहार या पाप से छुड़ाने की भावना है। सार यों है—

ब्रह्मविहार	उनके आलम्बन	उनका स्वरूप
१—मैत्री	सौख्यार्थिनि	सुखसयोगाकारा
२—करुणा	दु खार्ते	दु खवियोगाकारा
३—मुदिता	सुखिते	सुखावियोगाकारा
४—उपेक्षा	क्लिष्टे (च ते प्रवर्तन्ते)	नि:क्लेशतोपसंहाराकारा

महायान सूत्रालकार, १७।१७-८

इन ब्रह्मविहारों की भावना करने से जिन आन्तरिक दोषों से छुटकारा मिलता है, उनके विषय में बुद्ध ने कहा है - "मैत्री चेतोविमुक्ति (चित्त की उन्मुक्तावस्था) व्यापाद (द्वैमनस्य) का नि सरण (निकलने का मार्ग) है। करुणा चेतोविमुक्तिविहिसा (=हिसा) का नि:सरण है। मुदिता चेतोविमुक्तिअरति (मन के न लगने) का नि सरण है। उपेक्षा चेतोविमुक्ति राग का (कामना, इच्छा का) नि:सरण है।" विसुद्धिमग्ग पृष्ठ २१६।

इन ब्रह्मविहारों के अभ्यास से बहुत से लाभ होते हैं। उनका विशुद्ध मार्ग में (पृष्ठ २११-२१३) यों निर्देश है—

१—कितने ही लोग करवटें बदलते रहते हैं, सुख की नींद उन्हें नसीब नहीं होती। पर ब्रह्मविहारी उस तरह करवटें न बदल सुख से सोता है।

२—कितने ही लोगों के जगते समय अङ्ग अङ्ग टूटते रहते हैं। वे जमाई लेते हैं। उनकी तरह न जग कर ब्रह्मविहारी खिले कमल की तरह जगता है।

३—बुरे स्वप्न नहीं देखता।

४-५—मनुष्यों और अमनुष्यों को प्रिय होता है। अमनुष्य किस तरह प्रेम करते है इसका दृष्टान्त भी दिया गया है। उसका उल्लेख भी कम रोचक न रहेगा, क्योंकि पूर्व युग में देवता आज की तरह लापता न हो गए थे और उनके बिना पूर्व युग का मनुष्यजीवन ही अधूरा था। कथा यों है—"विशाख स्थविर पहले पाटलिपुत्र के गृहस्थ थे। बाल बच्चों को धन दौलत दे लंका गए। वहाँ के महाविहार में दीक्षा ले ली। उन्होंने चित्तल पर्वत पर जाकर चार महीने बिताए और एकदिन सबेरे चलने को तैयार हुए। तब मणिल वृक्ष की देवता रो पड़ी। उन्होंने पूछा क्यों रहो हो। उसने कहा तुम्हारे जाने कारण। स्थविर ने पूछा—मेरे यहां रहते तुम्हारा क्या लाभ? उसने कहा, भदन्त! आप के रहते सब लोग एक दूसरे के प्रति मैत्री भाव से रहते हैं। लड़ाई झगड़ा नहीं होता। स्थविर ने कहा, यदि यह बात है तो बहुत अच्छा। चार महीने और रहे। चलते समया देवता विचारी फिर रो पड़ी। सो, इसी तरकीब से स्थविर को ज़िन्दगी भर वहीं रहना पड़ गया।"

६—देवता रक्षा करते हैं।

७—अग्नि, विष और शस्त्र का असर नहीं होता।

८—चित्त शीघ्र शान्त हो जाता है।

९—चेहरे पर कान्ति आ जाती है।

१०—मरने के समय होश बना रहता है।

११—इस भावना से मुक्त न होने पर भी जैसे मनुष्य सो कर जगता है उसी तरह (आराम से) साधक की ब्रह्म लोक में उत्पत्ति होती है।

च—बोधिसत्त्वों की विहार भूमियाँ

१—बोधिसत्त्वों का गोत्र और बोधिचित्तोत्पाद

जो प्राणी बोधिसत्त्वों के गोत्र के होते हैं अर्थात् जिनमें बोधि बीज होता है उनकी पहचान करने के उपाय प्राचीन लोगों ने बताए हैं। जिनमें प्राणियों के प्रति स्वभावतः ही

करुणा हो, महायान के सिद्धान्तों में जिनकी श्रद्धा और विश्वास (=अधिमुक्ति) हो, जिनमें क्षान्ति या दूसरों के अपराधों को क्षमा कर देने की आदत हो, पुण्यों (=पारमिताओं) का अभ्यास करने की ओर सहज ही जिनकी रुचि हो ; उन्हें बोधिसत्त्वों के गोत्र का समझना चाहिए।

जिन विघ्नों के कारण प्राणी बोधिसत्त्वों के गोत्र से पतित हो जाता है, वे चार हैं—

(१) क्लेशों का अभ्यास या पाप करने की आदत।

(२) कल्याण मित्रों का अभाव।

कल्याण मित्र कौन हैं ? अष्टसाहस्रिका में कहा है—

सुभूति—"भगवन्, बोधिसत्त्व महासत्त्व के लिये हम किन्हें कल्यणमित्र समझें।"

भगवान्—"जो उन्हें पारमिताओं की शिक्षा देता है, और बतलाता है कि ये मार-दोष हैं इन्हें छोड़ देना चाहिए। उन्हें कल्याण मित्र समझना चाहिए।" (पृष्ठ १७)

मार कर्मों के स्वरूप का अष्टसाहस्रिका में बड़े विस्तार से वर्णन है। उसका एक अंश यों है—

"कोई आकर देवताओं की बड़ी प्रशंसा करेगा। कहेगा कि देवता लोग इस तरह से सुखी हैं। स्वर्ग लोक में इस तरह का सुख है। कामधातु मे इस तरह के कामोपभोगों का सेवन करना चाहिए। रूपधातु में इस तरह का ध्यान सुख लेना चाहिए। अरूप धातु में इस तरह का ध्यान सुख भोगना चाहिए। वह सब सुख विचार की दृष्टि से देखें तो दु:ख ही दु:ख है। उस सुख-दु ख के मंझट से छूट जाए इसलिये यह समझना चाहिए कि सभी कुछ संस्कृत है—अनित्य है, सभी कुछ भयावह है—दु:ख पूर्ण है, त्रैधातुक विश्व शून्य है, सब धर्म अनात्म हैं, सो सभी कुछ अशाश्वत, अनित्य, दु:खरूप, और विपरिणामधर्मक हैं ; ऐसा समझ पण्डितों को यहो स्रोत आपत्ति फल प्राप्त कर लेना चाहिए, सकृदागामि फल प्राप्त कर लेना चाहिए, अनागामि फल प्राप्त कर लेना चाहिए, यहीं अर्हत् फल प्राप्त कर लेना चाहिए। सुभूति, इसे भी मार का कर्म समझना चाहिए (पृष्ठ २४६)।"

यह छोटा सा उद्धरण भारतीय धर्म के विकास को भी बहुत सक्षेप में बताता है। देवलोकों में सुख के लिये तरह तरह के जतन करना बुद्ध से पहले ही धर्म का लक्ष्य था। बुद्ध ने उसके प्रलोभन छुड़ाकर इस ससार के भीतर अपना दु:ख दूर करने के लिये तृष्णा-परित्याग का मार्ग बताया। पर उस मार्ग का यह भाव न था कि लोग प्राणिहित भूल कर कोरी व्यक्तिगत साधना में रम जाएं पर बुद्ध के बाद जब व्यक्तिगत साधना पर ही बड़ा ज़ोर दिया जाने लगा तब उनमें से ही एक दल निकल पड़ा जिसने इस व्यक्तिगत साधना को भी मार-कर्म बताया।

इस तरह महायान में सुख भोग के लिये भटकना या व्यक्तिगत मोक्ष के लिये चिन्तित रहना दोनों ही मार कर्म हैं। केवल प्राणिहित करना ही एक मात्र धर्म है।

(३) उपकरणों की अपूर्णता

(४) पराधीनता

पराधीनता पुराने युग में सब तरह की उन्नति के मार्ग में बाधक रहती थी। स्त्रियाँ भारत में बहुत पुराने समय से परतन्त्र रही है। बुद्ध ने बड़ी हिम्मत करके उन्हें दीक्षा देने का नियम बताया पर सफल नहीं हुए। स्त्रियों की हालत गिरती ही गई। गाजरमूली की तरह वे पुराने वक्त में गुलामी के लिये बिका करती थीं। सामाजिक भोगविलास के लिये उन्हें अपना शरीर बेचना पड़ता था राजा और सेठ लोग उन्हें वेश्या बनाकर रखने में अपनी शोभा समझते थे (बुद्धचर्या २९७)। पुरुषों के लिये वे नमस्कार के योग्य न समझी जाती थीं। सद्धर्म पुण्डरीक में कहा है : "स्त्री को ब्रह्मा, शक्र, महाराज, चक्रवर्ती तथा अवैवर्तिक बोधिसत्त्व का स्थान नहीं मिलता (पृष्ठ २६४)।" उस पुराने समय में बौद्ध साधुओं की सहानुभूति स्त्रियों के साथ थी पर वे कुछ कर नहीं सकते थे सिर्फ उनके लिये प्रार्थना (=इच्छा) करते थे कि वे—

सर्वास्त्रियो नित्य नरा भवन्तु शूराश्च वीरा विदुपण्डिताश्च।

ते सर्वि बोधाय चरन्तु नित्यं चरन्तु ते पारमितासु षटसु ॥ (शिक्षासमुच्चय)

सब स्त्रियां पुरुष हो जाए। वे शूर-वीर पण्डित हों। वे बोधि के लिये आचरण करे। छः पारमिताओं का अभ्यास करे।

स्त्रियों के अतिरिक्त राजसैनिकों, गुलामों (दासों) और ऋणग्रस्तों की हालत बहुत गिरी थी। ये लोग सब तरह से पराधीन होते थे। इनका उद्धार करना साधुओं के वश की बात न थी। और यदि साधुगण उनके उद्धार का जतन करते तो, वे लोग जो बड़ी सेना रखकर राज्य करते थे, वे लोग जो गुलामों को रख ऐश व आराम उड़ाया करते थे, और वे लोग जो ऋण देकर उस समय शरीर तक मोल ले सकते थे, जरूर उनकी खोपड़ी तोड़ डालते। किसी राजसैनिक को साधु बनालेनेवालों के लिये कैसे बरतना चाहिए? "उस गुरु का शिर काट लेना चाहिए, अनुशासक की जीभ निकाल लेनी चाहिए, और गण की पसली तोड़ देनी चाहिए" (विनयपिटक पृष्ठ ११६-११७)। यह बात बुद्ध के शिष्य राजा बिम्बिसार के अधिकारियों ने कहा था। इन्हीं सब बातों के कारण बुद्ध ने नियम बना दिया था कि ऋणी, दास, और राजसैनिक को प्रव्रज्या नहीं देनी चाहिए। पराधीनता किस तरह धर्म-कर्म करने में बाधक रही है यह बात इतने से समझ में आ सकती है।

जो प्राणी बोधिसत्त्वों के गोत्र के नहीं होते वे कई तरह के हैं। उनमें कुछ लोग एकान्ततया दुश्चरित में लगे रहनेवाले लोग हैं या वे लोग हैं जिनका कुशलमूल (=पुण्यभाव) उच्छिन्न हो चुका है, या जिनका कुशलमूल मोक्षाभिमुख नहीं है, या जिनका कुशलमूल इतना कम है कि उन्हें मोक्षमार्ग की ओर नहीं ले जा सकता। ऐसे लोगों को तत्काल-अपरिनिर्वाण-धर्मा कहते हैं, क्योंकि वे वर्तमान में इस योग्य नहीं कि मुक्ति की ओर बढ़ सकें पर भविष्य में पुण्य सञ्चयकर वे मुक्तिमार्ग के पथिक हो सकते हैं। पर कुछ लोग ऐसे होते हैं सर्वथा हेतु हीन होते हैं। उनमें यह गुण नहीं कि मुक्ति की ओर बढ़ सकें।

बोधिसत्त्वों की चेतना या मानसिक कर्म में तीन गुण होते हैं। पुरुषकार या पौरुष अथवा उद्योग करने का गुण होता है, जिसके कारण महान् उत्साह और महान् आरम्भ (=तैयारी) से वे कार्य करते हैं। अर्थ क्रिया गुण होता है। अर्थक्रिया गुण से अभिप्राय है जो केवल फ़रज़ी या शाब्दिक चीज़ न हो बल्कि वैसी चीज़ हो जो ज़रूरत पूर्ण कर सके। जैसे घट पदार्थ है वह हमारी पानी लाने की ज़रूरत पूरा करता है, इसलिये अर्थक्रिया से युक्त है पर घटत्व केवल फ़रज़ी चीज़ है उससे हमारा कुछ काम नहीं चलता। अर्थक्रिया गुण के कारण ही वे महार्थ करते हैं। स्वार्थ भी करते हैं, परार्थ भी करते हैं। उसमें फल परिग्रह का गुण होता है। जिससे महोदय अर्थात् महाबोधि की प्राप्ति होती है। यह चेतना दो लक्ष्यों को रखकर उत्पन्न होती है महाबोधि की प्राप्ति के लिये तथा प्राणिहित के लिये उसका जन्म होता है—

महोत्साहा महारम्भा महार्थाथ महोदया।
चेतना बोधिसत्त्वानां द्वयार्था चित्तसम्भवः॥ (महायानसूत्रालंकार ४।१)

बोधिचित्तोत्पाद अध्यात्मिक विकास के साथ स्वय भी कई अवस्थाओं में विकसित होता है। महायान सिद्धान्त के प्रति अधिमुक्ति (=श्रद्धा और विश्वास) होने के कारण जब वह होता है तब उसे आधिमोक्षिक कहते हैं। उस अवस्था में अधिमोक्ष की ही प्रधानता रहती है। बाद में अध्यात्मिक विकास ज्यों ज्यों बढ़ता रहता है त्यों त्यों अधिमोक्ष की प्रधानता कम हो जाती है। सात भूमियों में वह शुद्धाध्याशयिक होता है क्योंकि तब अध्याशय (अर्थात्, चित्त) की शुद्धता ही प्रधान रहती है। आठवीं भूमि और उससे अपर की भूमियों में उसे वैपाकिक कहते हैं क्यों उसमें विपाक (=पुण्यकर्मफल) की ही प्रधानता रहती है। बुद्धभूमि में पहुँचकर वह अनावरणिक होता है क्योंकि आवरण उस समय नहीं रह जाता (महायान-सूत्रालंकार ४।२)। बोधिचित्त उत्पन्न होकर जिस तरह अनेकों भूमियों में विकसित होता है, उसके लिये भूमियों का परिचय आवश्यक है।

२. विहारभूमियाँ

बोधिसत्त्वों के एकादश विहार या भूमियाँ हैं। पहली भूमि का लक्षण परम शून्यता है क्योंकि धर्मनैरात्म्य और पुद्गलनैरात्म्य की प्रतिष्ठा पहली भूमि में ही हो जाती है। दूसरी भूमि का लक्षण है कर्मों की अविप्रणाशव्यवस्था अर्थात् यह समझना कि कर्म अपना फल देता ही है, वह बिना फल दिये नष्ट नहीं होता। तीसरी भूमि का लक्षण है अत्यन्त सुख के साथ ध्यान-प्राप्ति, इस भूमि के बाद शरीर छूटने पर काम धातु में उत्पत्ति होती है। चौथी भूमि में बोधिपाक्षिक धर्मों की लोकहित के लिये परिणामना (=समर्पण) होती है। पाँचवीं भूमि में चारों आर्य सत्यों के साक्षात्कार के कारण क्लेश रहित चित्त द्वारा सत्त्वों की परिपाचना (अर्थात् प्राणियों के धार्मिक भावों को पुष्ट करना) सम्भव होती है। छठी भूमि में प्रतीत्यसमुत्पाद के साक्षात्कार के कारण भवोपपत्ति (=ऊर्ध्व लोकों में उत्पत्ति)-विषयक संक्लेशों से अनुरक्षणा (=बचाव) हो जाती है। सातवीं भूमि का लक्षण है एकायन पथ (=अष्टमविहार) से श्लिष्ट (सटा हुआ), अनिमित्त, एकान्तिक मार्ग। आठवीं भूमि का लक्षण है निरभिसंस्कार (=वासनाहीन) एवं अनिमित्त विहारी (=विषयरूपी निमित्त के बिना ही विहार करनेवाला) होने से बुद्धक्षेत्र की परिशोधना। नवीं भूमि का लक्षण है सत्त्वपाक—(प्राणियों के बोधि बीज को परिपुष्ट करने की)-परिनिष्पत्ति। दसवीं भूमि का लक्षण है समाधि धारणियों की विशुद्धता। अन्तिम भूमि का लक्षण है बोधि-विशुद्धता (महायान सूत्रालंकार २०-२१। १०-१४।)

पहली भूमि से लेकर दसवीं भूमि तक के अलग अलग नाम हैं और उन नामों का अपना निर्वचन है—

(१) मुदिता—पहली भूमि में प्राणिहित की साधनभूत बोधि को समीप वर्ती देख बोधिसत्त्व के हृदय में तीव्र मोद उत्पन्न होता है इसलिये उसे मुदिता कहते हैं।

(२) विमला—दुःशीलता के मनसिकार (=मनोभाव) का मल दूसरी भूमि में दूर हो जाता है इसलिये उसे विमला कहते हैं।

(३) प्रभाकरी—समाधि बल से तीसरी में अप्रमाण धर्मों का अवभास प्राप्त होता है इसलिये उसे प्रभाकरी कहते हैं।

(४) अर्चिष्मती—चौथी में क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का दाह हो जाता है। इनके दाहक बोधिपाक्षिक धर्म होते हैं जिन्हें दाहकारक होने के कारण 'अर्चिस्' (=लपट) कहते हैं। इस भूमि में अर्चियां होती हैं, इसी लिये उन्हें अर्चिष्मती कहते हैं।

(५) दुर्जया—पाँचवी में सत्त्वपरिपाक और स्वचित्त रक्षा करते हुए दु ख जीता जाता है, इसलिये उसे दु`या कहते हैं।

(६) अभिमुखी—छठी में प्रज्ञापारमिता के आश्रय के कारण बोधिसत्त्व ससार और निर्वाण दोनों के प्रति अभिमुख होता है, इसलिये उसे अभिमुखी कहते हैं।

(७) दूरगमा—सातवीं भूमि एकायन पथ से श्लिष्ट होती है जो कि बहुत दूर है, इसलिये उसे दूरङ्गमा कहते हैं।

(८) अचला—आठवीं भूमि में निमित्त सज्ञा और अनिमित्त मनसिकार (=मनोभाव) सज्ञा से चञ्चलता नहीं रहती, इसलिये उसे अचला कहते हैं।

(९) साधुमती—नवीं में प्रतिसंवित्मति (=विश्लेषण करके अनुभव करनेवाली बुद्धि) की प्रधानता होती है। इस प्रधानता को ही साधु शब्द से कहा जाता है। और इसी के होने के कारण इस भूमि को साधुमती कहते हैं।

१०—धर्ममेघा—जैसे मेघ आकाश को व्याप्त कर लेता है, वैसे ही दसवीं भूमि समाधि धारणियों से धर्माकाश का व्याप्त कर लेती है, इसलिये उसे धर्ममेघा कहते हैं। महायान सूत्रालकार २०-२१। ३२-३८।

विविध पुण्यों के निमित्त रतिपूर्वक विहार करने के कारण बोधिसत्त्व की भूमियों को विहार कहते हैं। अमित या अप्रमाण होने के कारण, ऊर्ध्वगमन के कारण, अपरिमित प्राणियों के भय को नष्ट करने के कारण विहारों को भूमि कहते हैं। (२०-२१। ३९-४०)

३—बोधिसत्त्व की पहचान और बुद्ध का स्वरूप

बोधिसत्त्व की पाँच बातों से पहचान होती है। बोधिसत्त्व की हृदय से प्राणियों के प्रति अनुकम्पा होती है। इसलिये प्रयोग रूप में वह प्रियाख्यान या प्रिय वचन बोलता है। इससे प्राणियों को बुद्धशासन के प्रति अधिमुक्ति (=श्रद्धा और विश्वास) उत्पन्न हो जाती है। उसमें धीरता होती है जिससे कठिन से कठिन अवसरपर वह खिन्न नहीं होता। उसमें मुक्तहस्तता होती है अर्थात् उसका हाथ खुला होता है, जिससे लोगों को धनदान देने में नहीं हिचकिचाता। उसमें सन्धिनिर्मोक्ष होता है अर्थात् उसके कोई भी गाँठ नहीं रह जाती—सब संशय दूर रहते हैं, इसलिये वह धर्मदेशना ठीक ठीक करता है (२०-२१। १-२)। इन पाँच बातों द्वारा बोधिसत्त्व लोक सग्रह करता है और प्राणियों के उपकार में लगा रहता है।

बोधिसत्त्व इस तरह धर्माचरण करते करते बुद्धत्व को प्राप्त करता है। बुद्धत्व के विषय में उसका आदर्श बहुत ऊँचा है।

बुद्ध कौन है? १—जिसने परमार्थ (=तथता) का साक्षात्कार कर उसे पालिया है, २—सब भूमियों को जो पार कर चुका है, ३—सब प्राणियों में जो श्रेष्ठ है, ४—जिसका काम सब प्राणियों को मुक्त करना है, ५—जो असाधारण और अक्षय गुणों से युक्त है और उनके कारण (=गुणरूपी साभोगिक काय के कारण) जिसके लोक मे दर्शन होते है, तथा ६—दर्शन होते हुए भी अपने धर्म काय के कारण जो अदृश्य ही रहता है, वह बुद्ध है—

निष्पन्न परमार्थोऽसि सर्वभूमिविनि सृतः।
सर्वसत्त्वाग्रता प्राप्त· सर्वसत्त्वविमोचकः॥
अक्षयै रसमैर्युक्तो गुणैर्लोकेषु दृश्यसे।
मण्डलेष्वप्यदृश्यश्च सर्वथा देवमानुषैः॥ २०-२१। ६०-६१

इस प्रकार के उच्चस्थान को प्राप्त करने में बोधिसत्त्व सब प्रकार के साधनों से सुसज्जित हो पारमिताओं का अभ्यास करता है।

छ—बोधिसत्त्वों की चर्या के मर्मस्थान

बोधिसत्त्व की साधना ससार के भीतर रहकर होती है। अपनी साधना से वह सांसारिक लोगों को प्रभावित करता है। और ऐसा करने के लिये उसे ससार में बहुत फूक फूक कर चलना पड़ता है, क्योंकि उसे इस बात का ख़्याल रहता है कि लोगों के मन पर उसकी तरफ़ से कोई बुरा प्रभाव न पड़े, लोग उसे उलटा न समझ लें, लोग उसे अपना हितकारी और सन्मार्ग पर ले चलनेवाला समझकर कहीं अपकारी और असन्मार्ग पर ले चलनेवाला न समझ बैठें।' इन बातों का ख़्याल रखकर उसे कितनी ही बातें ऐसी भी करनी पड़ती हैं जिनका मतलब सिर्फ़ लोगों को प्रसन्न रखने के लिये ही होता है। इस तरह की कितनी ही बातों की कथा विनयपिटक में आई है। एक यों है—

"बड़ी भारी परिषद् से घिरे धर्मोपदेश करते भगवान् ने छींका। भिक्षुओं ने 'भन्ते, भगवान् जीते रहें, सुगत जीते रहें' का महान् शब्द किया। तब भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया—'भिक्षुओ छींकने पर "जीते रहें" कहने से क्या उसके कारण पुरुष जिएगा, मरेगा?' 'नहीं भन्ते।' 'भिक्षुओ, छींकने पर "जीते रहें" नहीं कहना चाहिए।

उस समय भिक्षुओं के छींकने पर लोग "जीते रहें भन्ते!" कहते थे। भिक्षु नहीं

बोलते थे। लोग हैरान होते थे 'कैसे शाक्य पुत्रीय श्रमण छींकने पर "जीते रहें भन्ते" कहने पर नहीं बोलते।'—भगवान् ने यह बात कही—

"भिक्षुओ, गृहस्थ मांगलिक होते हैं। भिक्षुओ, अनुमति देता हूँ, गृहस्थों के "जीते रहे भन्ते!" कहने पर "चिरजीव" कहने की।" पृष्ठ ४४६

इस तरह लोकसंग्रह के ख्याल से कितनी ही बातें बोधिसत्त्वों को करनी पड़ती हैं और उसे अपने उद्देश्य पर भी बहुत सावधान रहना पड़ता है। महायान के सूत्रग्रन्थों में तथा विनय पिटक में इस तरह की बातें बहुत विस्तार से कही गईं हैं पर वे बातें इतनी अधिक और इतने प्रकार की हैं कि उन सब का याद रखना आसान काम नहीं। इसलिये बहुत ज़रूरी है उसमें से कुछ सार चुन लिया जाए जिससे अभ्यास करनेवालों को सरलता हो। शान्तिदेव ने अपने शिक्षासमुच्चय में इस तरह की सारभूत बातों का बहुत संक्षेप में निर्देश किया है तथा सूत्रों के उद्धरण देकर उनका खूब विस्तार भी किया है। सत्ताईस श्लोकों (कारिकाओं) के भीतर उन्होंने सब सारभूत बातें कह डाली है उनका ज़िक्र करना यहां बहुत ठीक रहेगा।

बोधिसत्त्व सोचता है कि भय और दुःख न तो मुझे ही प्यारा है और न दूसरों को ही। फिर भला मुझमें कौन सी विशेषता है जो मैं दूसरों की तो रक्षा नहीं करता पर अपनी रक्षा में लगा रहता हूँ। दुःख का अन्त करने और सुख का छोर पाने की इच्छा से श्रद्धा की मूल को दृढ़ करके बोधि पाने के लिये दृढ़ यत्न करना चाहिए। कारिका १-२

बोधिसत्त्वों के कर्तव्य संक्षेप में यों हैं—

अ—१—आत्मभाव (शरीर और मन) की रक्षा।
२—भोगों की रक्षा।
३—त्रैकालिक पुण्य की रक्षा।

इ—४—आत्म भव की शुद्धि।
५—भोगों की शुद्धि।
६—त्रैकालिक पुण्य की शुद्धि।

उ—७—आत्मभाव का वृद्धि।
८—भोगों की वृद्धि।
९—त्रैकालिक पुण्यों की वृद्धि।

रक्षा शुद्धि और वृद्धि का उद्देश्य है उनका प्राणिहित के लिये उत्सर्ग कर देना। यदि इनकी रक्षा न की गई तो भोग सम्भव ही कहाँ, जब भोग ही नहीं तब दिया क्या जा सकेगा। (कारिका ४-६) इसलिये प्राणियों को भोगप्राप्ति हो सके, सिर्फ़ इस ख्याल से इनकी रक्षा बहुत

ज़रूरी है। रक्षा करने में सूत्रों के अध्ययन से तथा कल्याण मित्रों की संगति से बहुत सहायता मिलती है।

१. आत्मभाव की रक्षा

अनर्थ या दुष्कर्मों का परित्याग कर देना ही आत्मभाव की रक्षा है। प्राणिमात्र की सेवा को छोड़कर सब दूसरे कार्य निष्फल हैं और उन निष्फल कार्यों के त्याग से ही मनुष्य अपनी पूरी रक्षा कर पाता है। स्मृति या जागरूकता से इस अनर्थ का त्याग पूर्णतया सिद्ध हो पाता है। स्मृति उत्कट आदर या श्रद्धा से होती है। श्रद्धा ज्ञानसहित उत्साह से उत्पन्न होती है जो शम या शान्ति की महान आत्मा है। समाहित पुरुष को यथार्थ ज्ञान हुआ करता है और इस ज्ञान के कारण बाह्यचेष्टाओं के रुक जाने से मन शान्ति से विचलित नहीं होता।

बोधिसत्त्व को चाहिए कि सर्वत्र शान्त रहे, धीमी धीमी परिमित और स्नेहभरी बातों से सज्जनों का मन नरम बनाए रहे। ऐसा करने से लोग उसे चाहते हैं, किंच लोक में उस जिनाङ्कुर (=बोधिसत्त्व) को नहीं चाहता वह राख से दबी नरकों की आग में पचता रहता है। बोधिसत्त्व को चाहिए कि जिन बातों से लोग असन्तुष्ट हों उनका यत्न के साथ परित्याग कर दे।

भैषज्य (मांस, मछली नहीं) और वस्त्र से ही यह आत्मभाव की रक्षा करनी होती है। भोगों का सेवन भी शरीर रक्षा के लिये ही करना होता है, तृष्णा की पूर्ति के लिए नहीं। भोग में तृष्णा रखने से क्लिष्टापत्ति होती है—बड़ा पाप लगता है।

बोधिसत्त्वों को प्राणिहिंसा से लब्ध मांस खाना सर्वथा मना है। लंकावतार सूत्र के मांसभक्षण परिवर्त में कहा है—

> लाभार्थं हन्यते प्राणी मांसार्थं दीयते धनम्।
> उभौ तौ पापकर्माणौ पच्येते रौरवादिषु॥

लाभ के लिये (कसाई) प्राणी को मारता है। मांस के लिये लोग उसे धन देते हैं। वे दोनों ही पापकर्मी हैं और रौरव आदि नरकों में पचते हैं।

> वक्ष्यन्त्यनागते काले मांसादा मोहवादिनः।
> कल्पिकं निरवद्यं च मांसं बुद्धानुवर्णितम्॥

आगे चलकर मांसखानेवाले अज्ञानी लोग कहेंगे कि बुद्ध ने मांस को विहित कहा है—अनिन्दित कहा है।

त्रिकोटिशुद्ध मांस वै अकल्पितमयाचितम् ।
अचोदित च नैवास्ति तस्मान्मांस विवर्जयेत् ॥

त्रिकोटि परिशुद्ध अर्थात् अदृष्ट, अश्रुत, और अपरिशंकित मास भी बिना पकाए (=अकल्पित) बिना मागे (= अयाचित) और बिना प्रेरणा के नहीं होता । इसलिये मांस का त्याग करना चाहिए ।

प्राचीन युग में भारत के लोगों में मांस खाने का बहुत रिवाज था, विशेषकर आर्यों में —उन लोगों में जो अपने को बड़ा समझते थे । मांस खाने के लिए प्राणिहिंसा करना बहुत कुछ उनकी विशेषता समझी जाती थी । इस विशेषता की ओर इशारा करते बुद्ध की गाथा है—

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सब्ब पाणानं अरियोति पवुच्चति ॥ धम्मपद १९।२२

प्राणिहिंसा करने से कोई आर्य नहीं होता । जो किसी प्राणी की हिंसा नहीं करता वही आर्य कहलाता है ।

उस समय के श्रमण लोग प्राणिहिंसा न करने पर बहुत ज़ोर देते थे पर उस समय का समाज इतना अधिक मासाहारी था कि साधुओं को—श्रमणों को, जिनका निर्वाह भिक्षा पर ही होता था, मास से बच सकना बहुत करके सम्भव न था। इसलिये साधुगण भिक्षा में मिले मास को प्राणयात्रा के लिये स्वीकार कर लेते थे । सिर्फ़ इतना वे ख़्याल रखते थे कि खास तौर पर उन्हें मांस खिलाने के लिये किसी प्रकार की जीवहिंसा न हो । उस समय बस इतना कर लेना ही बहुत बड़ा आचार था । यद्यपि उस समय भी कितने ही लोग ऐसे भी ज़रूर रहे होंगे जो बिल्कुल मांस के ग्रहण के पक्ष में न हों, पर बुद्ध का विचार इस विषय में बहुत व्यावहारिक था, वे सिद्धान्ततया प्राणिहिंसा के विरोधी थे पर समय की गति को देखते हुए वे यह ठीक न समझते थे कि अपने अनुयायियों को कठिनाई में डालें । उस समय मांस-मछली का सर्वथा परित्याग भिक्षा मागकर निर्वाह करनेवालों के लिये असम्भव ही नहीं, किन्तु गृहस्थों को भी कठिनाई में डालनेवाला था । गृहस्थ इतने आचारी न थे कि स्वय मांस-मछली रहित भोजन करते, फलतः उनके लिये यही सरल था कि जैसा वे स्वय खाते वैसा ही दान भी देते । बुद्ध और भिक्षु संघ ने गृहस्थों पर कभी इस बात का ज़ोर नहीं डाला कि उन्हें यह खाने के लिये चाहिए, वह खाने के लिये चाहिए । जो कुछ गृहस्थ उन्हें अर्पित करते वे मौनभाव से स्वीकार कर लेते थे और इसलिये उनका अतिथि सत्कार करते गृहस्थों को बिल्कुल दिक्कत न होती थी । बुद्ध के अन्तिम दिनों में चुन्द नामक उपासक ने सूकर मद्दव (सुअर का मास) खिलाया था । उससे बुद्ध को रक्तातिसार हो गया और वही बुद्ध का अन्तिम भोजन रहा ।

बुद्ध के समय मास-मछली का परित्याग सम्भव न था और बुद्ध उस कठोर जीवन के पक्षपाती न थे जिसमें मनुष्य अपने शरीर को ही खो बैठे। यद्यपि उस युग में कठोर तपस्वी बहुत थे जो नगा रहकर भी अपने त्याग की पराकाष्ठा दिखाया करते थे। इन सब बातों को बुद्ध बहुत बेकार समझते थे। भिक्षुसघ में कितने ही सनकी लोगों ने सद्भावपूर्वक कठोर तापस व्रतों को प्रवेश करना चाहा था पर बुद्ध ने उन्हें मना कर दिया था। बुद्ध के शिष्यों में देवदत्त ने इस तरह की बातों को संघ में इसलिये घुसेड़ने की चेष्टा की कि बुद्ध जब इन बातों को मना कर देंगे तब लोगों में इस बात का प्रचार करेंगे कि बुद्ध और उनके अनुयायी उतने तपस्वी नहीं हैं जितने हम। और इस तरह बुद्ध के सघ को छिन्न भिन्नकर कितने ही आदमियों को अपनी ओर मिला खुद एक नया सघ बनाकर उसकी महन्ताई करेंगे। विनयपिटक में उसकी चर्चा है—

"देवदत्त जहां कोकालिक कटमोरतिस्सक और खण्डदेवीपुत्र समुद्रदत्त थे, वहा गया। जाकर ..बोला—

'आओ आवुसो, हम श्रमण गोतम का सघ-भेद करे। आओ...हम श्रमण गोतम के पास चलकर पाँच वस्तुए मांगे।. . .(१) भिक्षु ज़िन्दगी भर आरण्यक रहे, जो गाव बसे, उसे दोष हो। (२) ज़िन्दगी भर पिण्डपातिक (=मधुकरी वृत्ति से) रहे, जो निमन्त्रण खाए, उसे दोष हो। (३) ज़िन्दगी भर पांसुकूलिक रहे, जो गृहस्थ के दिए चीवर का उपभोग करे, उसे दोष हो। (४) ज़िन्दगी भर वृक्षमूलिक रहे, जो छाई जगह में जाए, उसे दोष हो। (५) ज़िन्दगी भर मछली-मास न खाए, जो मछली मांस खाए, उसे दोष हो। श्रमण गोतम इसे नहीं स्वीकार करेगा। तब हम इन पाँच बातों से लोगों को समझाएँगे।'.....

तब देवदत्त परिषद्सहित जहां भगवान् थे, वहा गया। जाकर भगवान् को अभिवादन कर, एक ओर बैठा। एक ओर बैठे देवदत्त ने भगवान् से कहा—'अच्छा हो भन्ते (१)......... (२) ....(३)............(४) .. .. (५).......... ।'

'देवदत्त, जो चाहे आरण्यक रहे, जो चाहे ग्राम में रहे। जो चाहे पिण्डपातिक हो, जो चाहे निमन्त्रण खाए। जो चाहे पांसुकूलिक हो, जो चाहे गृहस्थ के दिए चीवर को पहने। देवदत्त आठमास (बरसात को छोड़) मैंने वृक्ष के नीचे वास की अनुज्ञा दी है। अदृष्ट, अश्रुत, और अपरिशंकित, इन तीन कोटि से परिशुद्ध मांस की भी मैंने अनुज्ञा दी है।... ..'

तब देवदत्त परिषद्सहित राजगृह में प्रवेश कर उन पाँच बातों को ले लोगों को समझता था कि 'आवुसो, हमने श्रमण गोतम के पास जो पाँच बातों की याचना की...... .. इन पाँच बातों की श्रमण गोतम अनुमति नहीं देता।' वहां जो आदमी अश्रद्धालु.........थे

वह ऐसा बोलते थे—यह श्रमण अवधूत है, श्रमण गोतम बटोरू है, बटोरने के लिये चेताता है। और जो मनुष्य श्रद्धालु थे वह हैरान होते थे—'कैसे देवदत्त भगवान् के संघ में भेद के लिये... कोशिश कर रहा है' (पृष्ठ ४८८-४९)।

बुद्ध के बाद और विशेषरूप से अशोक के अनन्तर धीरे धीरे मांस भोजन का रवाज कम होता गया। वह मिटा तो नहीं पर धार्मिक लोगों के लिये मांस-परित्याग एक आचार बन गया। जब कि बुद्ध से पहले के युग में धार्मिक ऋषियों का प्रधान भोजन ही मांस था और इस मांसाहार की बातें बहुत बाद तक लोगों को न भूलीं। भवभूति ने अपने नाटकों में उस पुराने रवाज की याद को ताज़ा करने की कोशिश की है। रूठे परशुराम को मनाते हुए वशिष्ठ और विश्वामित्र ने कहा—

संज्ञप्यते वत्सतरी सर्पिष्यन्नं विपच्यते।
श्रोत्रिय श्रोत्रियगृहान् आगतोऽसि जुषस्व नः॥

[श्रोत्रिय, श्रोत्रियों के घर पर आए हो। (खूब) खुश होओ। बछिया मारी जा रही है। घी में अन्न पकाया जा रहा है (वीरचरित ३।२)।]

वाल्मीकि के आश्रम में वशिष्ठ के सत्कार का भी इस तरह वर्णन है—

सौधातकि—"इस मेहमान का क्या नाम है जो औरतों के बड़े क़ाफिले के साथ आया है।"

दाण्डायन—"छिः (सब जगह) मज़ाक़ !...भगवान् वशिष्ठ आए हैं।...

सौधातकि—"हूँ, वशिष्ठ !"

दाण्डायन—"और नहीं क्या ?"

सौधातकि—"मैंने समझा था कि कोई बाघ या भेड़िया है।"

दाण्डायन—"हः, यह कैसे कहते हो।"

सौधातकि—"क्योंकि इसके आते ही कपिला...मड़मड़ा डाली गई।"

दाण्डायन—"......गृहस्थ लोग घर पर आए श्रोत्रिय के लिये बड़ा बैल या बड़ा बकरा मारते हैं। धर्मसूत्रकारों ने उसे धर्म कहा है" (उत्तरचरित अंक ४)।

इस तरह पुराने जमाने की याद भले ही होती रही हो पर परवर्ती युग में मांस-मछली के सेवन का धार्मिकों ने पूरे तौर पर बहिष्कार किया। लंकावतार का मांस-भक्षण परिवर्त उसी आन्दोलन का सूचक है। त्रिकोटिपरिशुद्ध मांस सेवन की बुद्धानुज्ञा को मानना उस समय बुद्ध के आदर को कम करना था, क्योंकि जिस समय सूत्र की रचना हुई वह समय ऐसा ही था कि जब धार्मिकों में से मांस भोजन बहुत कुछ लुप्त हो गया था। इसलिए धार्मिक लोगों

के लिये यह सम्भव न था कि वे मान लेते कि बुद्ध ने मांसाहार की अनुज्ञा भी दी थी। और यदि मान भी लेते तो उनके लिये यह समझना मुश्किल था कि बुद्ध धर्मात्मा साधु थे। फलत. यही एक उपाय था कि यह स्वीकार कर लिया जाए कि बुद्ध ने त्रिकोटिशुद्ध मांसाहार की अनुज्ञा दी ही नहीं। और जो लोग उन्हें उस तरह की अनुज्ञा देने वाला मानते हैं उन्हें मांस–लोलुप और अज्ञानी कह दिया जाए।

(२) भोगरक्षा

उपायों को जान कर पुण्य करने से भोगों की रक्षा होती है।

(३) पुण्यों की रक्षा

अपने लिये फल की तृष्णा न रखने से पुण्यों की रक्षा होती है।

पुण्य करके कभी पछतावा न करना चाहिए कि मैंने यह क्यों किया, न करता तो भी क्या बिगड़ा जाता था। पुण्य करके उसका ढिंढोरा भी न पीटना चाहिए। बोधिसत्त्व को चाहिए कि लाभ और सत्कार से डरता रहे। अभिमान का त्याग कर दे। प्रसन्न रहे। धर्म के विषय में अविश्वास छोड़ दे।

(४) आत्मभाव की शुद्धि

आत्मभाव के शुद्ध हो जाने पर भोग उसी तरह पथ्य (=हितकर) होता है जैसे देह धारियों के लिये पका भात, जिसमें किनको नहीं रहती, हितकर होता है। तृणों से ढकी खेती जैसे रोगों से क्षीण हो जाती है, फलती फूलती नहीं, वैसे क्लेशों से ढका बुद्धांकुर नहीं बढ़ता। पापरूपी क्लेशों का शोधन करना ही आत्मभाव की शुद्धि है। बुद्ध वचनों का सार समझ उसके अनुसार यत्न न करने से मनुष्य को दुर्गति भुगतनी पड़ती है। क्षमाशील रहना चाहिए। शास्त्र सुनना चाहिए। वन का आश्रय ले समाधि के लिये यत्न करना चाहिए। वैराग्य प्राप्ति के लिये संसार के प्रति अशुभबुद्धि रखनी चाहिए।

(५) भोगों की शुद्धि

अच्छी तरह आजीविका की शुद्धि कर लेने से भोगों की शुद्धि होती है।

बौद्ध आचार अहिंसा पर निर्भर है। जिस जीविका में प्राणिहिंसा या परपीड़न करना पड़ता हो वह सम्यग् जीविका नहीं है।

(६) पुण्यों की शुद्धि

शून्यता दर्शन के साथ करुणा पूर्ण कार्यों से पुण्य की शुद्धि होती है।

(७) आत्मभाव की वृद्धि

चीज़ यदि थोड़ी हो तो उसके देने से किसी की तृप्ति नहीं हो सकती। इसलिये उसे बढ़ाने की ज़रूरत होती है। बल और अनालस्य का बढ़ाना ही आत्मभाव की वृद्धि है।

(८) भोगों की वृद्धि

शून्यता दर्शन सहित दान से भोगों की वृद्धि होती है।

(९) पुण्यों की वृद्धि

आरम्भ से ही दृढ़ सकल्प और दृढ़ चित्त से, करुणा भाव से पुण्यों की वृद्धि करना चाहिए।

भद्रचर्या विधि को आदरसहित करना चाहिए। वन्दना, पापदेशना, पुण्यानुमोदना और अध्येषणा का नाम भद्रचर्या है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा बलों का अभ्यास करना चाहिए। चारों ब्रह्मविहारों की भावना करनी चाहिए। बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, सघानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, शीलानुस्मृति और देवानुस्मृति रखनी चाहिए।

सब अवस्थाओं में निरामिष धर्मदान और बोधिचित्त पुण्य वृद्धि के कारण है। चार सम्यक् प्रधानों द्वारा प्रमाद न करने से, स्मृति और सम्प्रजन्य तथा गम्भीर चिन्तन से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है।

प्राणिमात्र के लिये उत्सर्ग करने के ख़्याल से ही आत्मभाव, भोग और पुण्यों की रक्षा बोधिसत्त्व करता है। इस तरह की पूर्ण उत्सर्ग भावना का प्रचार महायान से पूर्ववर्ती किसी सम्प्रदाय ने नहीं किया। अपने अपने आराध्य देवताओं के प्रति पौराणिक सम्प्रदायों में यह उत्सर्ग भावना ज़रूर देखी जाती है पर प्राणिमात्र के लिये नहीं। बोधिसत्त्व प्राणिमात्र की आराधना को ही बुद्ध की आराधना समझता है—

आराधनामाद्य तथागतानां सर्वात्मना दास्यमुपैमि लोके।
कुर्वन्तु मे मूर्ध्नि पद जनौघा विघ्नन्तु वा तुष्यतु लोकनाथ ॥

आज तथागतों की आराधना के लिये सर्वात्मभाव से लोक-दासता स्वीकार करता हूं। जनता चाहे मेरे माथे पर पैर रक्खे चाहे मुझे मारे। (इस लोक-सेवा से) लोकनाथ प्रसन्न हों।

बस, यही तथागत की आराधना है। इसीमें मेरे अपने स्वार्थ की भी सम्यक् साधना है। संसार का दुःख दूर करनेवाला मार्ग यही है। इसलिये मेरा व्रत भी यही हो—

तथागताराधनमेतदेव
स्वार्थस्य ससाधनमेतदेव
लोकस्य दुःखापहमेतदेव
तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव।

३. महायान के धार्मिक विश्वास

क—साधना को उच्चतम प्रतोक के रूप में बुद्ध का विकास

१ बुद्ध का मानव रूप

कोसल जनपद के उत्तर शाक्य और कोलिय जनों के दो गणराज्य थे। इन दोनों के बीच रोहिणी नदी बहती थी। पूरब की ओर कोलियों का और पच्छिम की ओर शाक्यों का राज्य था। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु (गोरखपुर ज़िले, नैपाल की तराई में आज खण्डहर के रूप में) थी और कोलियों की देवदह। शाक्यों के राजा शुद्धोधन की दो रानियां मायदेवी, और प्रजापति थीं। दोनों ही कोलियगण की कुमारियां थीं। एक बार मायादेवी अपने मैके जा रहीं थीं। रास्ते में लुम्बिनी नामक शालवन में वैशाखपूर्णिमा के दिन कुमार की उत्पत्ति हुई। उनका नाम सिद्धार्थ गोतम रक्खा गया। सिद्धार्थ की मां सात दिन के बाद परलोक सिधार गईं। उनका पालन उनकी मौसी प्रजापती ने किया।

सिद्धार्थ अपने पिता की बुढ़ापे की इकलौती संतान थे। इसलिये उनको खूब लाड़ प्यार से पाला गया। लाड़ प्यार में पलते हुए भी बचपन से उनका झुकाव वैराग्य की ओर था। इस ख्याल से उनका पुत्र कहीं साधु न बन जाए, पिता ने अठारह बरस की आयु में ही कोलियगण की एक रूपवती कुमारी यशोधरा से विवाह कर दिया। यशोधरा ने कुमार को अपने प्रेम में काफ़ी दिनों तक व्यस्त रक्खा पर उनकी वैराग्य-वृत्ति नष्ट न हुई। समय बीतते बीतते उनके सन्तान भी हुई जिसका नाम उन्होंने चिढ़कर राहुल (=वैराग्य वृत्ति को ग्रसनेवाला राहु) रक्खा। वृद्ध, रोगी, और मृत को देख उन्हे ससार से बहुत विरक्ति हो गई। बाद में प्रव्रजित को देख उन्होंने स्वयं प्रव्रजित होने की ठान ली। उनतीस बरस की आयु में उन्होंने चुपके से घरबार छोड़ दिया। इसीको उनका महाभिनिष्क्रमण कहते हैं। इसके बाद वे अनेक साधुसन्तों से मिले। आलारकालाम और उद्रक रामपुत्र ने उनको अपनी योग साधना की बातें बताईं। छः बरस तक योग और अनशन की उन्होंने भीषण तपस्या की। इस तपस्या में उनके अनुगामी पचवर्गीय भिक्षु भी थे। इस कठोर तप से उनका शरीर दुर्बल हो गया पर और कुछ भी हाथ न लगा। अन्त में उन्होंने इस मार्ग को ठीक न समझ त्याग दिया। भोजन करना आरम्भ कर दिया। पञ्चवर्गीय भिक्षुओं ने उन्हें तप से डरा समझकर साथ छोड़ दिया और वाराणसी चले गए।

भोजन करना शुरू करने पर उन्हें सुजाता नामक (बुद्धगया के पास के गाँव की) युवती ने पायस खिलाया। वह पायस बुद्ध के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं में से है। क्योंकि उस पायस खाने के बाद ही बुद्ध ने बोधि प्राप्त की थी। अपनी आयु के छत्तीसवे वर्ष वैशाख-पूर्णिमा को उन्हें बोधिप्राप्त की और उसी वर्ष उन्होंने वाराणसी जाकर इसिपतन मिगदाव (=सारनाथ) में पञ्चवर्गीय भिक्षुओं को आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन उपदेश दिया और कहा—कामभोग और बेकार की आत्मपीड़ा इन दो अन्तों (=किनारों) का सेवन प्रव्रजितों को न करना चाहिए। चारसत्यों का रास्ता इन दोनों किनारों के बीच का रास्ता है जिसे मध्यमा-प्रतिपदा कहते हैं। बाद में सारनाथ रहते रहते ही उनके शिष्यों की सख्या साठ हो गई। उन साठ शिष्यों को बुद्ध ने सन्देश दिया कि—बहुजनहिताय अर्थात् बहुत लोगों के हित के लिये घूमो। कोई भी दो भिक्षु एक तरफ न जाओ।" और स्वय भी चारिका के लिये चल पड़े और निरन्तर पंतालीस वर्ष भ्रमण कर अपना सन्देश लोगों को देते रहे। सिर्फ़ बरसात के चार महीने वे एक जगह रहते थे। उनके अनुयायियों ने भी यही किया। बुद्ध को बड़े योग्य और विद्वान् राजा एव धनी शिष्य मिले। गया की तरफ़ के बड़े कर्मकाण्डी काश्यपबन्धु, राजगृह के पास के शारिपुत्र मौद्गल्यायन उनके शिष्य हो गए। छप्पन बरस की आयु में जब बुद्ध को एक सेवक की ज़रूरत पड़ी तो शारिपुत्र ने कहा था मैं आप की सेवा करूंगा। इस पर बुद्ध ने उनसे कहा था—'नहीं शारिपुत्र, जिस दिशा में तू विहरता है, वह दिशा मुझसे अशून्य होती है। तेरा धर्म-उपदेश बुद्धों के धर्म-उपदेश के समान है। इसलिये मुझे तेरे उपस्थापक (बनने) से काम नहीं है (बुद्धचर्या पृष्ठ ३३६)। बाद में बुद्ध के सजातीय आनन्द ने बुद्ध की सेवा का भार लिया और अन्त तक छाया की तरह से रहे। बुद्ध के शिष्यों में नाई उपालि प्रधान विनयधर माने जाते थे। जीवन के अन्तिम दिनों में आनन्द के साथ चारिका करते मल्लों के देश में घूमते पावा पहुँचे। बुद्ध के शरीर में अधिक बल लाने के ख्याल से चुन्द लोहार ने उन्हें शूकरमद्दव खिलाया पर पच न सका। बुद्ध को बड़ा क्लेश हुआ। उसी दशा में चारिका करते वे कुशीनगर पहुँचे और वहीं अस्सी बरस की आयु में वैशाखी पूर्णिमा के दिन उनका परिनिर्वाण हो गया। अपने परिनिर्वाण से पहले चुन्द का ख्याल रख बुद्ध ने आनन्द से कहा था कि "चुन्द के मन में यह कोई शका न डाले कि उसके भोजन से बुद्ध का परिनिर्वाण हो गया। मेरे लिये उसका भोजन और सुजाता का भोजन एक समान है।"

बुद्ध के जीवन में ही लोग उनमें लोकोत्तर शक्तियाँ मानने लगे थे। बुद्ध को जब लोगों ने सर्वज्ञ कहना शुरू किया तो बुद्ध ने कहा था कि यह उनकी निन्दा है। पर बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद बुद्ध के जीवन के साथ लोकोत्तर और चमत्कारी बातें जुड़ती रहीं। उनकी

संख्या इतनी अधिक है कि उनके मानव जीवन को लोकोत्तर जीवन से अलग करना ही कठिन है। फिर भी बौद्ध साहित्य को ध्यान से देखें तो जान पड़ता है कि साहित्य का जो अंश जितना पुराना है उसमें उतनी ही कम लोकोत्तर बातें हैं। महायान सूत्रों में मानव बुद्ध का पता नहीं है। सर्वत्र लोकोत्तर चमत्कारों की भरमार है। हीनयान में अट्ठकथाओं अर्थात् पालित्रिपिटक की टीकाओं में खूब चमत्कार भरे पड़े हैं पर तुलना में महायानसूत्रों की अपेक्षा वे कुछ भी नहीं है। विनयपिटक में अट्ठकथाओं (टीकाओं) से चमत्कार कम और सूत्र पिटक में उससे भी कम। बुद्ध का मानवीय स्वरूप बहुत कुछ सूत्रपिटक से ही मालूम होता है। महायान सूत्रों में बुद्ध का स्थान इतना अधिक अलौकिक हो उठा है कि मानवीय जीवन के चिह्न ढूढने पर भी नहीं मिलते। पर हीनयान सूत्रों में बुद्ध का मानव रूप साफ़ दिखाई पड़ता है। वहाँ बुद्ध महापुरुष के रूप में हैं। मानवजीवन-सुलभ सभी बातें उनके साथ जुड़ी हैं। वे भिक्षा के लिये जाते हैं एक अभिमानी ब्राह्मण 'वृषल' कह कर उन्हें फटकार देता है। कितने ही लोग आदर करते हैं। पर उनके आदर को न सहनेवाले लोग भी है। वे उन पर मिथ्यारोप करते हैं। इसी तरह के आदमियों ने क्या किया उसकी एक कहनी यों है—

"चिंचा एक बहुत सुन्दर परिव्राजिका थी। तैर्थिकों ने उसे सिखाया कि तू किसी तरह श्रमण गोतम को बदनाम कर। चिंचा ने उनकी बात मानकर जेतवन की ओर जहां बुद्ध रहते थे शाम को तब जाती, जब बुद्ध के उपासक बुद्ध के दर्शन कर लौटा करते थे। वह जेतवन न जाकर जेतवन के समीप तैर्थिकाराम में रहकर वहां से सबेरे तब लौटती जब बुद्ध के दर्शन के लिये लोग जेतवन जाने लगते थे। रोज़ाना उसे आते जाते देखकर उन्होंने पूछा—'तू कहाँ शाम को जाकर सबेरे लौटा करती है। पहले तो वह यह कहकर टालती रही कि तुमसे क्या मतलब मैं कहीं जाती होऊं; पर बाद में कहने लगी कि मैं श्रमण गोतम के पास एक ही कुटी में वास करके लौटी हूँ। बाद में एक दिन उसने लकड़ी की एक मण्डलिका पेट पर बांध जेतवन में गई और सब लोगों के सामने बुद्ध से कहा—'श्रमण, मेरा गर्भ पूरा हो गया है, आप मेरे लिये कुछ प्रबन्ध क्यों नहीं कर देते।' बुद्ध ने सुना और इतना ही कहा 'बहन, मेरे तेरे बीच की बात मैं और तू ही जान सकते हैं। दैवयोग से वह मण्डलिका उसके पेट से गिर पड़ी और लोगों को मालूम हो गया कि वह सब छल था।"

बुद्ध के अस्सी बरस के जीवन के बीच बुढ़ापे में उनके शरीर का क्या हाल था? जरासुत्त में यों चर्चा है—

एक समय भगवान् श्रावस्ती में मृगारमाता के प्रासाद पूर्वाराम में विहार कर रहे थे। उस समय भगवान् अपराह्णकाल में ध्यान से उठकर पिछवाड़े धूप में बैठे थे। तब आयुष्मान्

आनन्द जहां भगवान् थे, वहां गए। जाकर भगवान् को अभिवादन कर भगवान् के शरीर को हाथ से मींजते हुए, बोले—'भगवान् की त्वचा का रग उतना परिशुद्ध, उतना पर्यवदात (उज्ज्वल) नहीं है। गात्र (=अग) शिथिल हैं। मुर्रियाँ पड़ी हैं। शरीर आगे की ओर झुका है। इन्द्रियों में भी विकार (=अन्यथात्व) दिखाई पड़ता है—चक्षु इन्द्रिय में भी विकार दिखाई पड़ता है। श्रोत्र इन्द्रिय में भी विकार दिखाई पड़ता है। घ्राण इन्द्रिय में भी विकार दिखाई पड़ता है। जिह्वा इन्द्रिय में भी विकार दिखाई पड़ता है। काय इन्द्रिय में भी विकार दिखाई पड़ता है।' 'आनन्द, यह ऐसा ही होता है। यौवन में जराधर्म है। आरोग्य में व्याधिधर्म है। जीवन में मरण धर्म है।

इस तरह के मानवरूप की छाया हीनयान सूत्रों में है ज़रूर पर अलौकिता से ढकी हुई है।

२—बुद्ध के जीवन में चमत्कार और पूर्वजन्म की कथाए

प्राचीन युग में महापुरुषों के बारे में चमत्कारी बातों का होना कुछ अचरज की बात नहीं हैं। बुद्ध के साथ इतनी अधिक चमत्कारी बाते जुड़ी हैं कि उनकी चर्चा काफी बड़े ग्रन्थ का विषय है। यहां सिर्फ एक घटना का ज़िक्र करना है। पैंतालीस बरस के धर्म प्रचार के जीवन में बुद्ध चौमासा भर एक जगह ठहरा करते थे। बरसात के दिनों में वह कहां कहां रहे? पूरी सूचि यों है—

वर्षावास	स्थान	वर्षावास	स्थान
१	इसिपतन (सारनाथ)	१२	बेरंजा (कन्नौज मथुरा के बीच)
२-४	राजगृह		
५	वैशाली	१३	चालियपर्वत (बिहार)
६	मंकुलपर्वत (बिहार)	१४	श्रावस्ती (गोंडा)
७	त्रयस्त्रिंश (?)	१५	कपिलवस्तु
८	सुंसुमारगिरि (=चुनार)	१६	आलवी
९	कौशाम्बी (इलाहाबाद)	१७	राजगृह
१०	पारिलेयक (मिर्ज़ापुर)	१८-१९	चालियपर्वत
११	नाला (बिहार)	२० २१-४५	श्रावस्ती (बुद्धचर्या पृष्ठ ७५ टि.)

सातवां वर्षावास त्रयस्त्रिंश में हुआ जो कि धरती की जगह न होकर देवताओं की जगह है। त्रयस्त्रिंश और उससे पहले की घटना यों है—

"राजगृह के एक सेठ ने चन्दन का एक पात्र ऊँचे बाँस पर बंधवाकर विज्ञापन दिया कि जो श्रमण ब्राह्मण ऋद्धिमान हों वे अपनी ऋद्धिबल से इसे उतार लें। बुद्ध शिष्यों में से पिण्डोल भरद्वाज ने आकाश में उड़कर पात्र उतारा। और सेठ की प्रार्थना पर आकाशमार्ग से उसके घर पर उतरे। उसने पात्र भरकर उत्तम भोजन दिया। बुद्ध ने इस बात को सुनकर पात्र को चूरचूर करवा दिया और नियम बना दिया कि कोई ऋद्धि-चमत्कार न दिखाए। दूसरे सम्प्रदायवालों ने यह जान कि अब बुद्ध और उनके शिष्य चमत्कार न दिखाने के नियम में बंध गए हैं चमत्कार दिखाने की प्रतियोगिता के लिये आह्वान करने लगे। राजा बिंबिसार ने बुद्ध से यह बात कही कि तैर्थिक चमत्कार दिखाने के लिये आपको ललकार रहे हैं पर आपने नियम बना दिया। अब आप क्या करेंगे। बुद्ध ने कहा कि नियम शिष्यों के लिये बना है, मेरे लिये नहीं। चार महीने बाद श्रावस्ती में मैं ऋद्धि प्रातिहार्य (ऋद्धि द्वारा चमत्कार प्रदर्शन) करूंगा। बुद्ध चारिका करते श्रावस्ती पहुँचे। तर्थिक लोग भी उनके पीछे पीछे गए और मण्डप बनवा चमत्कार दिखाने की प्रतियोगिता में भाग लेने के निमित्त बैठे। श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित् ने बुद्ध के लिये भी मण्डप बनाना चाहा पर उन्होंने इनकार कर दिया और कहा कि मेरा मण्डप इन्द्र बनाएगा। राजा ने पूछा कि आप कहा प्रातिहार्य करेंगे। बुद्ध ने कहा गण्डम्ब वृक्ष (गण्ड के अम्ब 'आम' वृक्ष) के नीचे। बुद्ध अम्बवृक्ष के नीचे प्रातिहार्य करेंगे यह बात जान तैर्थिकों ने योजन के बीच आमों का ही सफाया करा दिया। आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन बुद्ध नगर में गए। गण्ड नाम राजसेवक ने उन्हें एक पका आम, जो वह राजा के लिये ले जाना चाहता था, बुद्ध को दिया। उसका रस बनाकर बुद्ध ने उसकी गुठली गण्ड को दी और कहा इसको यहीं कहीं तोप दे। बुद्ध ने उस ज़मीन में तोपी गुठली पर हाथ धोए जिससे गुठली अंकुरित होकर वृक्ष बन गई। वृक्ष पके फलों से लद गया। इन्द्र ने बुद्ध के लिये आकाश में रत्नचक्रमण बनवाया और वातवलाहक (=मरुत) को भेज तैर्थिकों के मण्डप उखड़वा डाले तथा सूर्य को आज्ञा दी कि सूर्यमण्डल को थामकर तपाओ। फिर मरुतों से आँधी चलवाकर उनकी पूरी गत बना दो। बुद्धने रत्नचक्रमण पर पहुँचकर अपना यमकप्रतिहार्य दिखाया। उनके शरीर के ऊपरीभाग से तेज की किरणें निकलती थीं, नीचे भाग से जल की धाराएं। चमत्कार दिखा एक पैर युगन्धर पर्वत पर रख दूसरा सुमेरु पर रख त्रयस्त्रिंश पहुँच गए जहां उनकी माता भी उस लोक में उत्पन्न मौजूद थीं। इन्द्र आदि देवताओं से घिरी सभा में माता को अभिधर्म पिटक का उपदेश दिया। प्रतिदिन दो पहर को बुद्ध स्नान के लिये मानसरोवर आते और

उत्तरकुरु से भिक्षा ग्रहण करते। शारिपुत्र उस समय उनकी सेवा में पहुँचते और बुद्ध उनको देवलोक में जितना अभिधर्म का उपदेश दे चुके होते वह शारिपुत्र को बताते तथा शारिपुत्र बुद्ध की आज्ञानुसार उसे पाँच सौ भिक्षुओं को पढ़ाते। इस समय के बीच त्रयस्त्रिंश में भी उपदेश चलता रहता। वहां बुद्ध की ऋद्धि बल से निर्मित दूसरे बुद्ध का प्रवचन चलता रहता। इस तरह तीन मास मे माता को अभिधर्मपिटक का उपदेश दे आश्विन पूर्णिमा के दिन इन्द्र के द्वारा बनाए सोपान के सहारे सांकाश्य में उतरे। यमकप्रातिहार्य, देवलोक में वर्षावास, और सांकाश्यावतरण सभी बुद्धों के लिये अत्याज्य है। (बुद्धचर्या पृष्ठ ८३-९७)

मेरा अपना ख्याल है कि यह घटना सबसे पहली और महत्त्वपूर्ण चमत्कार घटना पालि-अट्ठकथा के बीच है जो यह बतलाती है कि कोई बुद्ध क्यों न हो यह तीन घटनाएं उसके साथ ज़रूर रहेंगी। महायान सूत्रों में तो इस ढंग की और भी घटनाए दिखाई पड़ेंगी जिन्हें वे सब बुद्धों के लिये एकसी ज़रूरी समझते हैं। बुद्ध भले और और होते रहें पर घटनाएं नहीं बदलेंगी, यह ठीक उसी तरह है जैसे पौराणिकों में विश्वास है कि अवतार तो युग युग में अनेक होते हैं पर उनकी घटनाए नहीं बदलतीं। अनेकों रामावतार हो चुके हैं और अनेको बार वे रावण को मार चुके हैं। अनेकों कृष्णावतार हो चुके हैं जो अनेकों बार कंस का संहार कर चुके हैं। बुद्ध के सम्बन्ध मे अट्ठकथा ने ठीक इसी तरह की बात कही है। अनेकों बुद्ध जो हो चुके, या होंगे वे ऊपर कही तीनों बातें करते ही हैं।

महायान सूत्रों में सद्धर्मपुण्डरीक के निदान-परिवर्त में एक चमत्कार के बारे में यही बात कही गई है। चमत्कार की संक्षिप्त कथा यों है—

"भगवान् राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर अर्हतों और बोधिसत्त्वों तथा देवताओं के साथ विहार कर रहे थे। परिषद् के बीच ही बुद्ध समाधिस्थ हो गए। उनके भौंहों के बीच के ऊर्णाकोश से एक किरण निकली जिससे पृथिवी के नीचे नरक से लेकर सबसे ऊपर भवाग्र तक दिखाई पड़ने लगे जिन के बीच अनेकों बुद्धक्षेत्रों में अनेकों बुद्ध उपदेश देते दृष्टिगोचर होते थे। जो कुछ वे बोलते थे सब सुन पड़ता था। उन बुद्ध क्षेत्रों में परिनिर्वाण को प्राप्त सब बुद्ध दिखाई पड़ते थे तथा उन बुद्धों के रत्नमय स्तूप भी दृष्टि गोचर होते थे।... ....

यह देख मैत्रेय बोधिसत्त्व ने कुमार मञ्जुश्री से पूछा कि इस प्रातिहार्य का कारण क्या है? मञ्जुश्री ने कहा मुझे अतीत कल्पों की बात याद है जब चन्द्रसूर्यप्रभ नामक तथागत हुए थे... उससे भी पहले चन्द्रसूर्यप्रदीप नामक तथागत हुए थे...तथा चन्द्रसूर्यप्रदीप नाम के ही बीस हज़ार तथागत हुए. . उनमें सबसे पीछे चन्द्रसूर्यप्रदीप तथागत की भौंहों के बीच के ऊर्णाकोश से इसी तरह किरण निकली थी और इसी तरह सब बुद्ध क्षेत्र दिखाई पड़ने लगे

थे। और उस प्रातिहार्य के बाद उन्होंने सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र का उपदेश दिया था। उसी तरह की किरण को निकला देख कर मुझे जान पड़ता है कि आज भी भगवान् सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र का उपदेश करेंगे।" यह सार मात्र है विशेष के लिये मूल देखना चाहिए।

बहुत ही साफ है कि दो बुद्धों के बीच एक सी घटना का प्रतिपादन करने तथा समय के भेद एक ही घटना की आवृत्ति बतलाने के लिये ही यह सब श्रम है।

ससार में कुछ बातें और कुछ हो घटनाएं बार बार चक्कर लगाती रहती हैं। ससार में नया कुछ नहीं होता। जो हो रहा है वह भी एक अतीत में हो चुका है। बस इसी प्रकार के अन्ध विश्वास का फैलाना ही इस श्रम का प्रयोजन है। पुराने युग की जनता के लिये इस अन्ध विश्वास का व्यवहारिक मूल्य था। किसी भी नूतन विचार को ग्रहण करने में रूढ़िपरायण जनता बहुत आगा-पीछा करती है। उसमें इस बात को फैलाना कि जो भी नई बात हो रही है वह पुरानी की आवृत्ति है, उसके लिये बड़ा सहारा है, जिससे उसे नये विचार ग्रहण करने में सहायता मिलती है। पर इतनी बात के लिये इतने घातक अन्धविश्वास को फैलाकर प्राचीन ब्राह्मणों और श्रमणों ने उपकार की जगह अपकार ही अधिक किया है। ससार के भविष्य को कुछ नियमित बातों में बांध देना कि भविष्य में जो कुछ होगा पहले भी हो चुका है, एक प्रकार से जन समूह के मन और शरीर को बहुत कुछ निकम्मा बना देना है। अवतार वाद के सिद्धान्त ने यही किया है। युग युग में विष्णु का अवतार जनता के सुख के लिये होगा, इस विश्वास में फँसे लोगों के ख्याल से जब तक अवतार नहीं होता तब तक जगत् का सुधार सम्भव ही नहीं। बौद्धों का भी यही ख्याल है कि जब आगामी बुद्ध होंगे दुनिया सुधर जाएगी। और वे मैत्रेय बुद्ध के आने की उसी तरह राह देख रहे हैं जैसे पुराणों के विश्वासी कल्कि के अवतार की।

बुद्ध के जीवन के साथ चमत्कारों ने जुड़कर जो बात उत्पन्न की ठीक वही बात उनके पूर्वजन्म की कथाओं ने की है। बुद्ध के जीवन में जो कुछ हुआ उसी से मिलती जुलती बात, मिलती जुलती क्यों, लगभग वही बात उनके पूर्वजन्म में हो चुकी है, बस इतना ही इन जन्म कथाओं का सार है। जातकट्ठकथा में, महावस्तु में, अवदानों में जहां भी निगाह डालिए बस यही बात मिलेगी। चमत्कार पूर्ण बातों को गढ़ लेना, विचित्र कथाओं की सृष्टि कर लेना किसी युग का बुद्धि वाद था और उसकी बहुत क़द्र थी। महावस्तु में कहा है 'बुद्ध के शासन में विचित्र ··कथाओं का कहने वाला. .भिक्षु उसी तरह शोभा देता है जैसे आकाश मण्डल में पूरा चन्द्रमा।' (महावस्तु भाग २, पृ० ११५)। फिर भला लोग इस तरह की बातें न गढ़ते तो करते क्या?

(३) बुद्ध का मायामय आविर्भाव और तिरोभाव

चमत्कारों और जन्म कथाओं ने इतना ही विश्वास दृढ़ किया कि समय समय पर बुद्ध होते रहते हैं और उनके जीवन की बातें एक समान होती है। कुछ घटनाएं सब बुद्धों के जीवन में ठीक एक जैसी होती हैं। हर एक बुद्ध की वर्तमान जीवन घटनाएँ पूर्व जन्म से मिलती जुलती है। पर इन चमत्कारों और जन्म कथाओं मे कहीं भी इस विश्वास का पता नहीं मिलता कि बुद्ध के जन्म आदि कथा भी वास्तविक नहीं है।

सद्धर्मपुण्डरीक में कदाचित् पहले पहल बुद्ध के आविर्भाव और तिरोभाव को सर्वथा मायामय बताकर उन्हें जन्मादि से अतीत बता कर ठीक उस स्थान पर बिठाया गया है जिस स्थान पर अवतारी सर्वथा अवतार दशा की जन्मादि अवस्थाओं से अतीत होकर "निर्गुण" बन कर विराजमान होना है। बुद्ध के इस अद्भुत रूप पर पहले पहले उन लोगों को विश्वास नहीं हुआ होगा जो उनमें बहुत कुछ लोकोत्तरता मानते हुए भी मनुष्य रूप में देखते थे। उन लोगों के उस अविश्वास की बात को भी बड़े ढग से लिख कर सद्धर्मपुण्डरीक यह सोचने में सहायता करता है कि बुद्ध का पूर्व रूप कैसा था और पर रूप किस तरह का हुआ। यहां पर उसके पन्द्रहवे प्रकरण "तथागतायुष्प्रमाणपरिवर्त" को सक्षेप से देख लेना ठीक रहेगा क्योंकि इसमें तथागत के स्वरूप सम्बन्धी सभी बाते ढंग से आ जाती हैं। थोड़े शब्दों में उस प्रकरण की कहानी यों है—

"भगवान् ने बोधिसत्त्वों को सम्बोधित किया। कुलपुत्रों, तथागत द्वारा कही गई सची बात पर श्रद्धा करो। दूसरी बार भी भगवान् ने यही बात कही, तीसरी बार भी यही बात कही। तब बोधिसत्त्वों ने मैत्रेय बोधिसत्त्व को आगेकर कहा कि भगवान् कहें, हम भगवान् की बात पर श्रद्धा करे गे। दूसरी बार भी बोधिसत्त्वों ने यही बात कही और तीसरी बार भी यही बात कही।

"तब भगवान् ने कहा। लोग यह जानते हैं कि शाक्यकुल से अभिनिष्क्रमण कर गया में बोधि वृक्ष के नीचे शाक्यमुनि तथागत को सम्यक् सम्बोधि प्राप्त हुई है।

"पर ऐसा नहीं समझना चाहिए। प्रत्युत यह समझना चाहिए कि सम्यक्सम्बोधि प्राप्त किए मुझे करोड़ों कल्प, 'कल्पकोटिनयुतशत सहस्राणि' हो चुके हैं। मैं इस लोक में तथा दूसरे करोड़ों लोकों में 'लोकधातुकोटिनयुतशतसहस्रेषु' जब से धर्मोपदेश कर रहा हूँ तबसे इस बीच दीपंकर प्रभृति जितने तथागत हुए उनका परिनिर्वाण धर्मोपदेश के लिये उपाय कौशल्य भर था। क्योंकि—'अपरिमितायुष्प्रमाणं तथागतः सदा स्थितः। अपरिनिर्वृतस्तथागतः परिनिर्वाणमादर्शयति वैनेयवशेन। (सद्धर्मपुण्डरीक पृष्ठ ३१८-३१९")तथागत सदा स्थित हैं उनकी आयु

का प्रमाण अपरिमित है। जिन लोगों को वे शिक्षा देना चाहते हैं उन्हीं के कारण वे अपना परिनिर्वाण दिखाते हैं यद्यपि परिनिवृत नहीं होते।

"कुलपुत्रो ! मानलो, किसी वैद्य के बहुत लड़के हैं। वैद्य प्रवास में हैं। इस बीच उसके लड़के कोई विषैली चीज़ खाकर बीमार हो जाते हैं। वैद्य आकर उन्हें भैषज्य देता है। उन लड़कों में जिनका होश-हवास दुरुस्त है वे तो भैषज्य पीकर ठीक हो जाते हैं। पर जो बहुत कुछ पगले हैं वे नहीं पीते, समझाए जाने पर भी अपने पिता वैद्य की बात नहीं मानते। उनके लिये उनका पिता उपाय से काम लेता है। किसी दूसरे देश जाकर वहां से खबर भिजवा देता है कि उसका देहान्त हो गया। इस खबर से उन्हें शोक होता है और उनका कुछ होश-हवास दुरुस्त हो जाता है तब वे भी वह भैषज्य पीकर ठीक हो जाते हैं। उनके ठीक हो जाने पर वह वैद्य फिर घर आ जाता है। इस तरह अपने लड़कों के लिये उपाय करते हुए क्या उस वैद्य पर झूठ बोलने का इलज़ाम लगाया जा सकता है?" "नहीं भगवन्, नहीं लगाया जा सकता। इसी तरह मैं भी बीच बीच में प्राणियों को शिक्षा देने के लिये उपाय बरतता हूँ। और मुझपर इसके कारण झूठ बोलने का दोष नहीं लगता।"

"प्राणियों को शिक्षा देने के लिये यह मेरा उपाय है जो मैं अपना निर्वाण दिखाता हूँ पर निर्वृत नहीं होता, यहीं धर्मप्रकाशन करता रहता हूँ। यह मैं ठीक कह रहा हूँ, मेरी बात झूठी नहीं होती। इस विषय में सन्देह मत करो, दुविधा छोड़ दो—

निर्वाणभूमिं चुपदर्शयामि विनयार्थसत्त्वान वदाम्युपायम्।
न चापि निर्वाम्यहु तस्मि काले इहैव चो धमु प्रकाशयामि॥
मा सशय अत्र कुरुध्व पण्डिता विचिकित्सितं च जहथा अशेषम्।
भूतां प्रभाषाम्यहमेतवाच मृषा मम नैव कदाचि वाग्भवेत्॥"

—"सद्धर्मपुण्डरीक १५ गाथा ३, १९"

इससे बहुत साफ़ हो जाता है कि प्राथमिक और प्राचीन बुद्ध स्वरूप लोकोत्तर कल्पनाओं से जकड़ा न था। उन्हें शाक्यवंश में उत्पन्न महापुरुष के रूप में समझा जाता था ज्यों ज्यों समय बीता उनके ऐतिहासिक रूप पर परदा पड़ता गया तथा वे धीरे धीरे अपने अनुयायियों की कल्पना की प्रतीक बन गए। मेरा ख्याल है कि उनके अनुयायियों की उनके प्रति जो अत्यधिक श्रद्धा थी, उस श्रद्धा के कारण ही उनका ऐतिहासिक रूप मिटा डाला गया। बुद्ध अपने जीवन में अपने भक्तों के लिये आधार थे। उनके परिनिर्वाण के बाद उनका धर्म और विनय उनका आधार बना। उनकी धातुएँ (=अस्थियाँ) पूजा की वस्तु बनीं। धर्मचक्र और बोधिवृक्ष को प्रतीक मानकर लोग उन्हें श्रद्धांजलि देने लगे। बाद में उतने से तृप्ति न होकर

उनकी प्रतिमाएं बनाई गईं। पर यह सब चीज़ें बाहरी थीं। लोगों की भक्ति के स्थूल रूप ही धातुओं के स्तूप, धर्मचक्र और बोधिवृक्ष के प्रतीक थे। केवल इतने भर से भक्त को सन्तुष्ट होना कठिन है। जिसके प्रति उसकी भक्ति है, जिसके प्रति उसने अपना जीवन समर्पित कर दिया है वह संसार में नहीं है, उसका परिनिर्वाण गया है, इस बात को सहन करना भक्त को मनोवृत्ति के लिये अत्यन्त असम्भव है। क्योंकि जिसके प्रति उसकी भक्ति है, वह उसके मनमें तो सब तरह से जीवित है फिर वह केवल इसलिये कि वह उसे मांसचक्षुओं से नहीं देखता, उसका अभाव कैसे मान सकता है? पर दुनिया जिसका अभाव मानचुकी है उसके सामने उस अभाव का खण्डन करना कुछ टेढ़ी बात है। भक्त को इस बात की परवाह भी नहीं कि लोगों को अपनी बात मनवाए ही पर यदि उसे अपनी बात कहनी हो तो उसे इस तरह से ज़रूर कहना होगा कि लोगों के दिलमें घर कर सके। और उसीका यह यत्न है कि बुद्ध को सदास्थित मानकर उनके आविर्भाव और तिरोभाव का उनका उपाय कौशल्य कह दिया गया। भक्त के लिये बुद्ध एक आदर्श हैं। जितने बुद्ध हो चुके हैं उनमें उसे कोई भेद नहीं जान पड़ता क्योंकि उसे उनके भौतिक रूप उनके वंश, उनकी जाति एवं वर्ण, देश एव भाषा से मतलब नहीं है। और यदि उसे कुछ मतलब भी है तो वह उन्हें एक रूप में देखना चाहता है। लङ्कावतारसूत्र में परिवर्त ३ पृष्ठ १४१-१४३ इस बारे में चर्चा है—

"बोधिसत्त्व ने भगवान् से पुछा कि भगवान् ने क्या ख़्यालकर कहा कि जो बुद्ध हो चुके, वह मैं ही हूं? भगवान ने कहा चार तरह की समता ख़्यालकर तथागत बात बोलते हैं। अक्षरसमता, वाक्यसमता, धर्मसमता, कायसमता। जिन अक्षरों से मेरा नाम बुद्ध है उन्हीं अक्षरों से उनका नाम भी बुद्ध था। यही अक्षर-समता है। जिस प्रकार का मेरा...... ब्रह्मस्वर है ठीक वैसा ही उनका भी था। यही वाक्य-समता है। मेरा और उन तथागतों के धर्मकाय तथा रूप-लक्षण (=बुद्ध के शरीर पर होनेवाले बत्तीस चिह्न) अनुव्यञ्जन (=बुद्ध के शरीर पर होनेवाले अस्सी चिह्न)-काय समान हैं। यह काय-समता है। मैंने और उन तथागतों ने सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों का साक्षात्कार किया। यह धर्म-समता है। इस चार तरह की समता का ख़्याल रख तथागत बात बोलते हैं। समता के कारण मैंने जिनपुत्रों (=बोधिसत्त्वों) से कहा है कि मैं ही काश्यप, क्रकुच्छन्द, कोनाकमुनि हूँ—

काश्यपः क्रकुच्छन्दश्च कोनाकमुनिरप्यहम्।
भाषामि जिनपुत्राणां समतायां समुद्गतः॥"

बुद्ध को एक आदर्श के रूप में उपस्थित करने तथा अनेक बुद्धों की कल्पना से उत्पन्न पृथक्ता को एक करने का ही यह सब प्रयत्न है।

इस प्रकार के बुद्ध को धरती पर ढूढना ठीक न होगा। इस तरह के बुद्ध का दर्शन उन भक्तों के हृदय में, उन भक्तों के मनमें पैठने से ही हो सकता है जिनका हृदय और मन तदाकार हो गया है। इस प्रकार के बुद्ध का स्वरूप ही चित्तमय है मनोमय है। चित्त से अलग उसे ढूढा जाने पर कह देना पड़ेगा कि वह है ही नहीं, पर इसका सीधा अर्थ है कि भक्तजन के मन को—चित्त की सत्ता से इनकार कर देना। यदि भक्त में चित्त न रहा; मन न रहा तो वह घुने ठूँठ के समान है जो कुछ भी काम नहीं दे सकता, जला भले दिया जाए। पर जिन्होंने पूरे तौर पर बिना अपने किसी स्वार्थ के अपना सब कुछसर्वात्मना उच्च आदर्श के पीछे उत्सर्ग कर दिया है, उनकी इस उत्सर्गभावना के पीछे कुछ भी मानसिक भाव नहीं यह कौन मानेगा? भक्त में जो सबसे प्रधान बात है वह है उसका चित्त। उस चित्त में ही बुद्ध को ढूढना पड़ेगा। लङ्कावतारसूत्र में कहा है—

मनोविज्ञानव्यावृत्तं चित्तं कालुष्यवर्जितम्।
सर्वधर्मावबोधेन चित्तं बुद्धं वदाम्यहम्॥ सगाथक २३९

सर्व धर्म के अवबोध से मनोविज्ञान जिसका व्यावृत हो चुका है अर्थात् बहिर्मुखी प्रवृत्ति रुक गई है, जिसमें मलिनता नहीं रही है, उस चित्त को मैं बुद्ध कहता हूँ।

इस प्रकार के बुद्ध का मानसिक अस्तित्व सिद्ध है। ऐतिहासिकों के लिये भले न हो पर भक्तों के लिये वह है। भक्त को भौतिक इतिहास से विरोध नहीं, और भौतिक इतिहास की लौहभित्तियों से उसे कोई मतलब नहीं। पर जहां तक मन के इतिहास से सम्बन्ध है इस तरह के बुद्ध को आज भी निर्मल हृदयों में बैठा देखा जा सकता है। यह वे बुद्ध नहीं जिनकी दुर्गति करने के लिये पौराणिकों ने कह दिया कि वे असुरों के छलिया थे। यह वे बुद्ध नहीं जो चुन्द के सूकरमद्दव से पीड़ित हो गए थे। यह वे बुद्ध नहीं जिन्हें चिंचा ने बदनाम करने की कोशिश की थी। यह वे बुद्ध हैं जो निर्मलता की प्रतीक हैं। छल कपट और सब दोषों से परे हैं। लोक के लिये आदर्श होते हुए भी लोक से परे हैं। सदास्थित हैं। उनके दर्शन और अदर्शन आविर्भाव और तिरोभाव की समस्या ऐतिहासिकों के लिये दुर्बोध है। भक्तों के लिये वह मायामय है।

इसी प्रकार के बुद्धत्व तक साधक अपने आपको पहुचाना चाहता है।

ख—बुद्ध के तीन यान

जिस बुद्धत्व को प्राप्त करने के लिये साधक प्रयत्न करता है, उसके बारे में साधक का अपना ख्याल किस तरह का है? वह उसे कैसा सोचता और समझता है? यह जान लेना बहुत ज़रूरी है। निश्चय ही वह जिस तरह का बुद्ध होना चाहता है उसका चित्र इन चर्मचक्षुओं से नहीं उतारा जा सकता और न उसे इन चर्मश्रोत्रों से सुनाही जा सकता है। वज्रच्छेदिका में कहा है जिन लोगों ने मुझे रूप के द्वारा देखा, घोष (=ध्वनि) के द्वारा मेरे अनुगामी हुए वे बेकार की मेहनत करते रह गए। उन्होंने मुझे देखा ही नहीं—

ये मां रूपेण चाद्रक्षुर्ये मां घोषण चान्वगु ।
मिथ्याप्रहाण प्रसृता न मा पश्यन्ति ते जना. ॥ वज्रच्छेदिका

अष्टसाहस्रिका में कहा है कि 'धर्मकायास्तथागताः' तथागत का काय धर्मकाय है उन्हें रूपकाय के द्वारा नहीं देखना चाहिए। (अष्टसाहस्रिका पृष्ठ ५१३)। धर्मकाय की परिनिष्पत्ति के द्वारा तथागत को देखना होगा। तथागत का यह काय भूतकोटि से प्रभावित जानना चाहिए और वह है प्रज्ञापारमिता। (पृष्ठ ९४)। प्रज्ञापारमिता असंग-लक्षणा (पृष्ठ ३९९) है। संग या राग का सर्वथा अभाव ही असंगता है। वीतरागता की पराकाष्ठा ही बुद्ध का धर्मकाय है।

इस असंगता या वीतरागता में मन या चित्त की स्थिति किस प्रकार की होती होगी? यह जानना साधक का काम है। उसे शब्दों से प्रकट करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। साधारण लोगों के लिए बाहरी दुनिया और भीतरी (मनकी) दुनिया दोनों ही सच हैं। पर योगाभ्यासी साधक के लिये बाहरी दुनिया नहीं है, और यदि है भी तो वह चित्त की कल्पना से अधिक और कुछ नहीं है। उसके लिये उसका चित्त ही मुख्य है। वह चित्त भी यदि दुनिया भर की कल्पनाओं से घिरा है,—वे कल्पनायें चाहे आत्मा से सम्बन्ध रखती हों या परमात्मा से, उनका सम्बन्ध प्रकृति से हो या पुरुष से, जड़ से हो या चेतन से हो—तो वह साधारण लोगों का चित्त है। साधक का चित्त बहुत कुछ इससे ऊपर उठा होता है। उन सब कल्पनाओं से मुक्त होता है जिनमें साधारण लोगों का चित्त फँसा रहता है। उस चित्त के लिये बाहरी दुनिया होती ही नहीं। बाहरी दुनिया से विविक्त चित्त का वर्णन करते असंग ने कहा है—

अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तर च तत् ।
आश्रयस्य परावृत्तिर्द्विधा दौष्ठुल्यहानितः ॥

स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः ।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः ॥ त्रिंशिका २९, ३०

वह चित्त 'अचित्त' कहलाता है क्योंकि वह ग्राहक नहीं है—किसी चीज़ को ग्रहण नहीं करता। ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य बाह्य जगत् उसके लिये नहीं है इसलिये वह 'अनुपलम्भ' है। लोक में इस तरह के चित्त का व्यवहार न होने से वह 'लोकोत्तर ज्ञान' है। दो प्रकार के दौष्ठुल्य अर्थात् आवरण (क्लेशावरण और ज्ञेयावरण) के नष्ट हो जाने से आश्रय या अधारभूत चित्त (=आलयविज्ञान) परावृत्त होता है, प्रवृत्त नहीं होता। चित्त की निवृत्ति-परायणता का नाम ही आश्रयपरावृत्ति है। इसीको 'अनास्रवधातु' कहते हैं क्योंकि उस पर आवरण नहीं होता। वह अचिन्त्य है क्योंकि उसे तर्क से नहीं जाना जा सकता। वह कुशल है। वह ध्रुव है और सुख रूप है। जो अनित्य होता है उसे बौद्ध दर्शन में दुःख कहा जाता है। जो दुःखाभाव रूप है वही ध्रुव है वही सुख रूप है। दुःख का न होना ही ध्रुवता-नित्यता-अक्षयता एवं सुख-रूपता है। वही विमुक्तिकाय है। वही धर्माख्य अर्थात् धर्मनामवाला महामुनि बुद्ध का 'धर्मकाय' है। असगता, आश्रयपरावृत्ति, या चित्त की निवृत्तिपरायणता का नाम ही धर्मकाय है।

धर्मकाय की यह व्याख्या बहुत कुछ अभाव-परक है। जो चित्त बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से लौट चुका है वह है क्या? बतलाना बहुत कठिन है। चित्त की प्रवृत्तावस्था ही बतलाई जा सकती है, जिसके बारे में लकावतारसूत्र में कहा है पुद्गल (=जीव), सतति (=परिवर्तन का प्रवाह), स्कन्ध, प्रत्यय, अणु, प्रधान (=प्रकृति) ईश्वर, कर्ता सभी चित्तमात्र के विकल्प हैं—

पुद्गलः सन्ततिः स्कन्धाः प्रत्यया अणवस्तथा ।
प्रधानमीश्वरः कर्ता चित्तमात्रं विकल्प्यते ॥ लकावतार पृष्ठ ७९

इन सब विकल्पों से निवृत्त चित्त का स्वरूप अभावात्मक जान पड़ता है पर अभावात्मक है नहीं। भले ही अभावात्मक न हो पर उसे भावात्मक कहना भी सम्भव नहीं जान पड़ता। केवल उसे निषेधात्मक विशेषणों द्वारा ही बहुत कुछ बताया जा सकता है। असग का ख्याल है कि बुद्ध ने जिन चीज़ों को अव्याकृत या अव्याख्यात रक्खा है उनमें एक यह बात भी है कि 'मरने के बाद तथागत होते हैं या नहीं?' इस बात का बुद्धने जो उत्तर नहीं दिया वह सिर्फ इसलिये कि आश्रय-परावृत्तिरूप जो बुद्ध का वास्तविक स्वरूप है उसे भाव या अभाव रूप में बतलाना सम्भव नहीं—

न भावो नापि चाभावो बुद्धत्वं तेन कथ्यते ।
तस्माद्बुद्धतथाप्रश्ने अव्याकृतनयो मतः ॥ महायान सूत्रलंकार ९।२४

बुद्ध के धर्मकाय के भावात्मक स्वरूप का अन्दाज़ा लगाने के लिये यह जानना बहुत ज़रूरी है कि बुद्ध में ज्ञानरूपता किस तरह मानी गई है। बुद्ध के ज्ञान को चार भागों में विभाजित किया गया है—आदर्शज्ञान, समताज्ञान, प्रत्यवेक्षाज्ञान, और कृत्यनुष्ठानज्ञान। आदर्श ज्ञान को अनेकों विशेषणों द्वारा बताया गया है। वह 'अमम' है—ममता या ममकार का भाव उसमें नहीं है। वह 'अपरिच्छिन्न' है—उसकी सीमा नहीं है, किसी खास देश, खास जगह से वह बँधा नहीं है। वह 'सदानुग' है—ऐसा नहीं कि किसी भी समय उसकी परम्परा टूट जाती हो। ज्ञेय के विषय में वह 'असमूढ़' होता है—उसे सभी जानने योग्य पदार्थों को ठीक जानकारी रहती है। ऐसा होते हुए भी वह उन ज्ञेयों के प्रति 'आमुख' नहीं होता—उनके प्रति उसमें उत्सुकता नहीं होती। सब ज्ञानों का वह महान् आकर जैसा होता है क्योंकि वही सब ज्ञानों का निमित्त है। इसी ज्ञान से सभोगबुद्धता और उसके ज्ञान का प्रतिबिम्ब उदय होता है। प्रतिबिम्ब के उद्भावक होने के कारण उसे "आदर्श (=दर्पण)" कहते हैं। (महायान सूत्रालंकार ९. ६८, ६९)। सभोगबुद्धता से अभिप्राय बुद्ध के उस रूप से है जिससे वे ससार में रहते हैं और जिसका लोग दर्शन करते हैं।

इसी आदर्श ज्ञान के सहारे तीन और ज्ञान टिके रहते हैं। प्राणियों के प्रति समत्व बुद्धि का होना—सब को समान समझना ही समता ज्ञान है जो भावनाशुद्धि के कारण निर्मल और अप्रतिष्ठ समाविष्ट अर्थात् निर्वाणानुप्रविष्ट होता है। सर्वदा मैत्री और करुणा से अनुगत होता है। प्राणी अपने अधिमोक्ष (=श्रद्धा और विश्वास) के अनुसार बुद्ध को जिस रूप में देखना चाहते है इस ज्ञान से बुद्ध का उन्हें वैसा ही दर्शन होता है। इसका ही नाम समता ज्ञान है। (महायान सूत्रालकार ९ ७०-७१)।

परिषत् के बीच जिससे सब प्रकार की विभूतियों का दर्शन होता है, सब प्रकार के सन्देह छिन्न हो जाते है, तथा जिससे महान् धर्म की वर्षा होती है उसका नाम प्रत्यवेक्षाज्ञान है। (महायान सूत्रालकार ९ ७३)।

उस ज्ञान को कृत्यनुष्ठान ज्ञान कहते हैं, जिसके द्वारा सब धातुओं में—सब लोकों में अद्भुत और अप्रमेय एवं अचिन्त्य शरीरों का निर्माण कर सब प्राणियों का हितसाधन किया जाता है। (महायान सूत्रालकार ९,७४)।

इन चारों ज्ञानों में आदर्श ज्ञान का जो वर्णन है उससे धर्मकाय का बहुत कुछ अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। इस अन्दाज़ा लगाने में कितनी भूलें भी सम्भव हैं क्योंकि सरसरी तौर पर देखने से वह बहुत कुछ "ब्रह्म" जैसी रहस्यमय वस्तु बन जाता है। पर दोनों में भेद बहुत है। ब्रह्म एक स्वय सिद्ध सत्ता है, वह स्वयं किसीसे उत्पन्न नहीं है प्रत्युत सभी जड़-

चेतन जगत् का वह उत्पादक है। कोरा उत्पादक ही नहीं सब की स्थिति का कारण और लय का आधार है। पर धर्मकाय कोई स्वयसिद्ध सत्ता नहीं है प्रत्युत चित्त की सर्वोच्च एव परिपूर्ण विकासावस्था है। अष्टसाहस्रिका में कहा है कि 'जैसे वीणा से शब्द...... .....तन्त्री और पुरुष के व्यायाम से उत्पन्न होता है, वैसे ही बुद्धों की काय निष्पत्ति हेतु के अधीन होती है, प्रत्यय के अधीन होती है। अनेक कुशलमूलों के प्रयोग से परिनिष्पन्न होती है .....बहुत हेतु और प्रत्यय की सामग्री होने पर उत्पन्न होती है' (अष्टसाहस्रिका ४१४-५१५)। बस, इतने से धर्मकाय को ब्रह्म-जैसी रहस्यमय वस्तु समझने से बचाया जा सकता है। वस्तुत बुद्ध के धर्मकाय में कितने ही विशेषणों की समानता के अतिरिक्त ब्रह्म से भेद ही अधिक है। भेद ही नहीं, यदि दोनों के स्वरूप पर ज़रा गहरी निगाह डालें तो परस्पर इतना विरोध जान पड़ेगा कि उन्हें एक कहने की हिम्मत भी नहीं की जा सकती।

ब्रह्म तथा विष्णु, शिव एव शक्ति के उपासक जिस रूप में अपने उपास्य देवताओं को देखते हैं, उस रूप में बौद्ध साधक बुद्ध को नहीं देखता। सबसे बड़े भेद एव विरोध की बात है कि बुद्ध न तो दुनिया को रचते हैं और न पाल पोस कर उसे धूल में मिलाते हैं। बुद्ध का सर्ग, स्थिति और लय से कोई सरोकार नहीं। पर ब्रह्म तथा दूसरे देवता सर्ग, स्थिति और लय से पूर्णतया सबद्ध हैं। यह विरोध बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस विरोध के कारण बुद्ध को उस अपण्डितता का इलज़ाम लगाने से बचाया जा सकता है, जिसकी शिकायत करते एक मौजी कविने कहा था: 'विधाता का अहमक़पना तो देखो! हाय रे! यदि ऐसे पुरुष रत्न को बनाया जो सब तरह से गुणी है, इस धरती का भूषण है, तो भले मानस उसे बना ही रहने देता न! उसे क्षण-भगुर क्यों बना डाला?—

सृजति तावदशेषगुणाकरं
पुरुषरत्न मलंकरण भुव.।
तदपि तत्क्षणभङ्गि करोति चेद्
अहह! कष्टमपण्डितता विधेः।''

सर्ग, स्थिति, और लय से निर्लिप्त होते हुए बुद्ध का रूप ऊपर जिन चार ज्ञानों की चर्चा आई है उनमें वह बहुत स्पष्ट है। आदर्शज्ञान या पूरी असगता उनका वास्तविक रूप है पर असग होते हुए भी वे प्राणिहित की साधना में लीन रहते हैं वह बात उनके शेष तीन ज्ञानों से स्पष्ट है। इन ज्ञानों में आदर्श ज्ञान बुद्ध के धर्मकाय को समझने में बहुत मदद देता है। पूरे तौर पर न सही, पर बहुत कुछ धर्मकाय के स्वरूप का अन्दाज़ा लग जाता है। इस धर्मकाय को असग ने स्वाभाविककाय (महायान सूत्रालकार ९, ६०) कहा है।

इसी धर्मकाय को ध्यान में रखकर बुद्ध को एक कहा गया है उनके अनेकत्व का निषेध किया गया है। अनेकत्व का निषेध कर देने का यह मतलब नहीं है कि उन्हे एक रहस्यमय वस्तु समझ लिया जाए और परम्परागत अनेक बुद्ध होने के सिद्धान्त से छुट्टी ले ली जाए। जिन कारणों से बुद्ध को अनेक कहा जाता है वे ये हैं—

(१) बुद्ध के गोत्र में अनन्त प्राणी हैं। उनमें एक ही बुद्ध होगा, सो बात नहीं, प्रत्युत सभी जो बुद्धत्व के निमित्त पारमिताओं का अभ्यास करते हैं वे बुद्ध होंगे। इसलिए बुद्ध को एक नहीं कहा जा सकता।

(२) पुण्य बुद्धत्वप्राप्ति के उद्देश्य से किया जाता है। यदि सभी पुण्य में लगे प्राणी बुद्ध न हो सके तो उनकी पुण्य चर्या बेकार हो गई। इसलिये बुद्ध को एक नहीं माना जा सकता।

(३) प्राणियों के हित की पूर्णता तभी हो सकती है जब सब को बुद्ध होने का अवसर रहे। यदि किसी एक के बुद्ध होने की बात मान ली जाए तब तो यह सम्भव हो नहीं।

(४) पुण्य करने से कोई भी बुद्ध हो सकता है। जिस प्रकार ब्रह्म आदि को एक मूल या आदि पदार्थ माना जाता है उसी तरह बौद्ध परम्परा में कोई आदि बुद्ध नहीं माना जाता। इसलिये बुद्ध को एक मानने की बात नहीं उठती (महायान सूत्रालंकार ९, ७७)।

धर्मकाय के अतिरिक्त बुद्ध के दो काय और हैं—सभोगकाय और निर्माणकाय। बुद्ध का धर्मकाय सब बुद्धों में एक समान होता है पर सभोगकाय एक समान नहीं होता। अलग अलग लोकों में बुद्ध का सम्भोगकाय अलग अलग होता है। बुद्ध जब ऋद्धिबल से अपने जैसे अनेक बुद्धों का निर्माण करते हैं तो उन निर्मित कायों का नाम निर्माण काय है। इनमें सम्भोगकाय बुद्ध के अपने लिये है पर निर्माण काय सर्वथा परार्थ है। परहितार्थ है। विज्ञप्ति-मात्रतासिद्धि में जिक्र है कि सम्भोग काय दो तरह का होता है—स्व-सम्भोग-काय और पर-सम्भोग -काय। स्वसम्भोगकाय का दर्शन सब लोक धातुओं के बुद्धों को ही होता है। परसम्भोग-काय के दर्शन विभिन्न लोक धातुओं के बोधिसत्त्वों को होता है। इन दोनों के रंग-रूप तथा स्वर में भेद नहीं होता। हाँ, एक भेद होता है, वह यह कि परसम्भोग काय में महापुरुष के लक्षण होते हैं। पर स्वसम्भोग काय में नहीं। परसम्भोग काय का चित्त वास्तविक नहीं होता पर स्वसम्भोग काय का चित्त वास्तविक होता है। स्वसम्भोग काय के चित्त में आदर्श, समता, प्रत्यवेक्षा, और कृत्यनुष्ठान ज्ञान रहता है पर परसम्भोग काय के चित्त में नहीं।

धर्मकाय जिस तरह बहुत कुछ ब्रह्म से मिलता जुलता जान पड़ता है वैसे ही स्वसम्भोग

काय, परसम्भोग काय तथा निर्माणकाय बहुत कुछ उस सगुण ब्रह्म के समान जान पड़ते हैं जो कि अवतार आदि धारण करता है तथा संसार में अनेक विभूतियों और चमत्कारों से अपने को प्रकट करता है। धर्मकाय और ब्रह्म (= निर्गुण ब्रह्म) में जो मौलिक भेद रह जाता है वही इन तीनों कार्यों और सगुण ब्रह्म में बच रहता है सर्ग-स्थिति-लय करने की अहता इनमें पूरे तौर पर बची रहती है। बुद्ध के इन तीनों कार्यों को 'सगुणकाय' कहना बहुत ठीक रहेगा, तथा इनकी अपेक्षा धर्मकाय को 'निर्गुणकाय' कहना भी उचित होगा। सगुणकाय और सगुणब्रह्म में बहुत अन्तर है। बुद्ध का सगुणकाय कुशल एवं कल्याण का प्रतीक है। यहा ब्रह्म के सभी सगुण रूपों की चर्चा नहीं हो सकती पर विष्णुरूप की चर्चा कर लेना ठीक रहेगा, क्योंकि विष्णुरूप के साथ बुद्ध को जोड़ने का प्रयत्न पौराणिकों ने किया है।

पौराणिकों का ख्याल है कि बुद्ध विष्णु के अवतार हैं। यद्यपि बौद्ध परम्परा इस बात को नहीं मानती, पर पौराणिकों को इस बात के मानने से रोक नहीं सकती। पौराणिकों का बुद्ध के बारे में ख़्याल है कि—

"पूर्वकाल में किसी समय सौ दिव्य वर्षों तक देवासुर संग्राम होता रहा, उस संग्राम में ह्राद प्रभृति दैत्यों द्वारा देवगण पराजित हुए। देवगण इस लिए क्षीरसागर के उत्तर तट पर जाकर तप करने लगे। उन्होंने विष्णु की आराधना के लिये स्तुति की। स्तुति समाप्त होने पर देवताओं ने परमात्मा हरि को हाथ में शंख, चक्र, गदा लिये तथा गरुड़ पर आरूढ़ अपने सम्मुख देखा। उन्हें देख सब देवताओं ने प्रणामकर कहा : 'नाथ, प्रसन्न हों और हम सब शरणागतों की दैत्यों से रक्षा करें। हमारे शत्रुगण दैत्य वर्णधर्म का पालन करनेवाले, वेदमार्गावलम्बी और तपोनिष्ठ हैं। अतः वे हमसे नहीं मारे जा सकते। अतः हे सर्वात्मन्! जिससे हम उन असुरों का बध करने में समर्थ हों ऐसा कोई उपाय आप हमें बतलाइए।' उनके ऐसा कहने पर भगवान् विष्णु ने अपने शरीर से माया मोह को उत्पन्न किया और उसे देवताओं को देकर कहा: 'यह मायामोह दैत्यगण को मोहितकर देगा तब वे वेदमार्ग का उल्लंघनकर तुम लोगों से मारे जा सकेंगे।'

तदनन्तर जितेन्द्रिय मायामोह ने रक्तवस्त्र धारणकर असुरों के पास जा उनसे मृदुमधुर और अल्प शब्दों में कहा—यदि तुम लोगों को स्वर्ग अथवा मोक्ष की इच्छा है तो पशु-हिंसा आदि दुष्कर्मों का त्यागकर बोध प्राप्त करो। यह सारा जगत विज्ञानमय है, ऐसा जानो। इस विषय में बुद्धजनों का यही मत है कि यह संसार निराधार है, भ्रान्तिज्ञानमात्र भर है, रागादि दोषों से दूषित है। ऐसे युक्तियुक्त नानाप्रकार के वाक्य कहने पर दैत्यगण ने वेद

धर्म का त्यागकर दिया। और बाद मे वे देवताओं से पराजित हो गए।" विष्णुपुराण, ३य अश, अध्याय १७।१८।)

पुराणकर्ता यज्ञ और उसकी हिंसा के समर्थन में उतावला जान पड़ता है। पशुहिंसा आदि कर्मों को वह शायद इसलिये धर्म समझता है कि बिना उनके हिंसा-प्रधान यज्ञ होना सम्भव नहीं है। पुराणकर्ता ने ससार की मायामयता और भ्रान्तिमयता को भी बड़े सन्देह की निगाह से देखा है पर बाद में गौड़पाद और शकर ने इसीको वेदान्त का परम सिद्धान्त स्थापन करने का यत्न किया है। इस कारण प्रच्छन्न बौद्ध कहकर शकर को दुर्दुराया ज़रूर गया है पर बाद में वही सिद्धान्त अपनाया गया और इस तरह से अपनाया गया कि वह वेदान्त का सारभूत सिद्धान्त होकर अब तक जी रहा है। पुराणकर्ता के अनुसार बुद्ध विष्णु के छली रूप का प्रतीक है।

मेरा अपना ख्याल है कि बुद्ध को बदनाम करने के लिये असुरों के मोहने की कथा गढ़ी गई है पर कथा का इतना अश सच है कि बुद्धमार्ग सर्वथा वेदविरोधी मार्ग है। वैदिक हिंसा, तथा दूसरे वैदिक विश्वासों से बौद्धमार्ग भिन्न है। इस भिन्नता के कारण बौद्धधर्म की उपादेयता में कोई फर्क नहीं पड़ता। वेद की प्रागैतिहासिक प्रथाएँ आज केवल इतिहास में पढ़ने की चीजें हैं उनकी आचरण के लिये कुछ भी उपयोगिता नहीं रही है। बुद्ध के मार्ग के महत्त्व को इसलिये भुलाया नहीं जा सकता कि वह वेद के अनुकूल नहीं है। पर जिस जनसमाज को यह ख्याल है कि वेद ही उनका सब कुछ है, जो वेद-विपरीत है वह अधर्म है, उसे भड़काने के लिए इतना कहना बहुत है कि बुद्धमार्ग वेदविरोधी मार्ग है। और वह असुरों को छलने के लिये निकाला गया था। जो भी हो, पौराणिकों के हिसाब से बुद्ध विष्णु का छलिया रूप है। विष्णु के दूसरे रूपों को इस छल प्रपञ्च से उसके भक्त भी नहीं बचा सकते, पर जिनकी विष्णु के प्रति भक्ति नहीं उन्हें तो विष्णु में दोष ही दोष दिखाई पड़ते हैं। शिवभक्तों ने बहुत कुछ विष्णु की कठोर आलोचना की है शिवपुराण में विष्णु पर किए गए कुछ आक्षेप यों हैं—

"रामावतार में विष्णु ने अपनी निष्पाप पत्नी का त्यागकर स्वार्थ के लिये वेदमार्ग को ध्वस्त किया। कृष्णावतार में इसने पराई स्त्रियों को दूषित किया, कुलधर्म बिगाड़े और वेदमार्ग छोड़कर अपने विवाह किए। फिर इसी ने (बुद्धावतार में) वेद-विरोधी नास्तिक मत स्थापित किया।" (शिवपुराण रुद्रसंहिता कुमारखण्ड ९)

ब्रह्मपुराण में यों कहा गया है—

"बलि नाम का बड़ा प्रतापी दैत्य राजा था। देवता उसके शत्रु थे फिर भी उसे

कोई पराजित न कर सका। धर्म में, यश में, प्रजाओं की सावधानी से रक्षा करने में, गुरुभक्ति, सत्य, वीर्य और बल में, त्याग तथा क्षमा में कोई त्रैलोक्य में उसके समान न था। उसकी समृद्धि देख देवताओं को बहुत फिक्र हुई। वे सोचने लगे कि बलि कैसे जीता जाए। उसके राज्यशासन में त्रिलोकी में किसी को कुछ खटका न था (हतकटकम्)। कोई किसी का शत्रु न था। आधि-व्याधि कहीं न थी। अनावृष्टि, और अधर्म की आवाज़ न सुनाई पड़ती थी। कोई दुर्जन न था। उसकी उन्नतिरूपी बाणों से भिन्न, कीर्तिरूपी तलवार से खण्डित, उसकी आज्ञारूपी बर्छी से छिन्न अंगवाले देवताओं को चैन न थी। उसके यशरूपी अग्नि से देवताओं के अग अग झुलस गए और वे मत्सर वश सलाहमशवरा करने लगे, बहुत व्याकुल होकर विष्णु के पास पहुँचे। और कहा "ब्रह्ममूर्ति के द्वारा आप सृष्टि करते हैं, विष्णु होकर आप रक्षा करते हैं, रुद्रशक्ति से आप सहार करते हैं। आप ही बताइए हम दैत्यों के आगे कैसे सिर झुकाएँ।" (ब्रह्मपुराण अध्याय ७३) ऐसा कहने पर बाद में विष्णु ने वामनरूप धरकर साढ़े तीन पैर पृथिवी बलि से जाकर माँगी उसने बचन दिया। तब एक एक पैर में अपना विराट् रूप बना विष्णु ने तीनों लोक तो लेही लिए पर आधा पैर बच रहा उसके लिये बलि को अपना शरीर देना पड़ा।

सगुण ब्रह्म के इस प्रकार दोषयुक्त होने के कारण उसे सर्वथा दोषरहित बुद्ध के सगुण स्वरूप के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

बुद्ध के इन तीनों कायों के विषय में ऊपर जो ब्योरा दिया गया है वह योगाभ्यासी (=योगाचार) साधकों के दृष्टिकोण से है। इन तीनों कायों को जिस रूपमें उल्लेख किया गया है वह रूप उन्हें अकस्मात् ही नहीं मिला है। उसके विकास का एक क्रम है। प्रत्येक महापुरुष का शरीर लोगों के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण होता है पर केवल शरीर दर्शन से महापुरुष को जाना नहीं जा सकता उसको उसके आचार-विचारों से ही समझा जा सकता है। बुद्ध ने इसी लिए कहा है 'जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है।' महापुरुष के शरीर की विशेषताएं भी लोगों के लिये कम आकर्षक नहीं होतीं। वे भी लोगों की चर्चा का विषय बनी रहती हैं। बुद्ध के शरीर की विशेषताओं के प्रति भी लोग उसी तरह आकृष्ट होते गए होगे और बाद में वे विशेषताएं साहित्य में घुस आई होंगी। बत्तीस लक्षणों और अस्सी अनुव्यञ्जन वाले बुद्ध के शरीर का वर्णन बौद्ध साहित्य में है। लक्षण और अनुव्यञ्जन-वाला काय बहुत दिनों तक रूपकाय ही कहा जाता रहा। संभोग काय का विकास पुरानी रूप काय की धारणा से हुआ है। बुद्ध के जीवन में चमत्कार पूर्ण घटनाएँ जुड़ती रहीं, उन्होंने बुद्ध को लोकोत्तर बना डाला। इन चमत्कारों का ही प्रतिनिधि बुद्ध का निर्माण काय है। बुद्ध ने

जिस धर्म को अपना दर्शन योग्य रूप कहा है वह शील, समाधि, और प्रज्ञा के द्वारा आत्मविकास है—शरीर और मन का परिशोधन है। आत्मपरिशुद्धि की यही धारणा धर्मकाय के रूप में विकसित हुई। इन तीनों को निर्गुण और सगुण रूपों में विभाजन मैंने जान बूझ कर किया है। ऐसा करने से ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप के साथ रख कर उनका तारतम्य परखने में सुविधा रहती है।

ग—बुद्धक्षेत्र, बुद्ध, और बोधिसत्त्व

जो प्राणी बोधि के लिये पारमिताओं का अभ्यास करता है, वह अपनी साधकावस्था में बोधिसत्त्व तथा सिद्धावस्था में बुद्ध कहलाता है। बुद्ध जिस लोक में उत्पन्न होते हैं वह उनका क्षेत्र कहलाता है। इस हमारी धरती पर जिसे बौद्ध परम्परा के अनुसार सहा—लोक धातु कहा जाता है, शाक्यमुनि गोतम बुद्ध से पूर्व भी अनेकों बुद्ध हो चुके हैं। आज बोधि के लिये यत्न करनेवालों में मैत्रेय हैं जिनका निवास इस समय तुषित लोक में है तथा आगे चलकर वे बुद्ध होंगे।

मैत्रेय बोधिसत्त्व शाक्यमुनि के सेवकों में से हैं और उन्हीं से भावी बुद्ध होने की भविष्यवाणी (=व्याकरण) भी उन्हें मिली है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक बोधिसत्त्व हैं जो अनेकों बुद्धों की सेवा कर चुके हैं तथा कर रहे हैं। अस्सी हज़ार बोधिसत्त्वों की संख्या परम्परा में कही गई है (सद्धर्मपुण्डरीक पृष्ठ २)। बुद्धों की यद्यपि इस तरह संख्या गिनकर नहीं कही गई पर जितने बुद्धों के नाम मिलते हैं उनकी संख्या सैकड़ा पार कर जाती है। सिर्फ सुखावतीव्यूह में जिन बुद्धों के नाम आते हैं वे ही संख्या में एक जगह इक्यासी हैं। बुद्धों और बोधिसत्त्वों की इस लम्बी संख्या से घबराने की ज़रूरत नहीं। वेद से लेकर पुराणों तक के ब्राह्मण साहित्य तथा श्रमण साहित्य में देवी-देवताओं की एक बड़ी संख्या हमारे सम्मुख आती है पर उनमें कुछ ही देवी-देवता हैं जिन्होंने हमारे जीवन पर सबसे अधिक प्रभाव डाला है। बुद्धों और बोधिसत्त्वों के बारे में भी बहुत कुछ यही बात है।

शाक्यमुनि गोतम बुद्ध ने जनता के जीवन को सबसे अधिक प्रभावित किया। उनके जीवन की घटनाएँ इतनी मानवीय और प्रभावोत्पादक हैं कि उनसे इतिहास को अलग नहीं किया जा सकता। गोतम बुद्ध भारत के इतिहास की एक जीती जागती प्रतिमा है। पचासों चमत्कारों की घटनाओं को उनके साथ जोड़ देने पर भी उनका मानवरूप न मिट पाया है और

न मिट सकेगा। शाक्यमुनि को छोड़कर दूसरे बुद्धों की कथाएं कोरी अतिकथाएं है, सर्वथा पौराणिक कथाए हैं, उनका अस्तित्व इतिहास में नहीं खोजा जा सकता। इन इतिहासातीत बुद्धों में से कितने ही बौद्ध जनता के बीच इतने अमर हो चुके हैं कि जब तक उस जनता का अस्तित्व है, उन्हें मानना-जानना उस जनता के विश्वासों से परिचित होना है। चीन में अमिताभ बुद्ध की बड़ी प्रतिष्ठा है। मध्यदेश में जन साधारण के बीच जिस तरह 'राम राम' शब्द का प्रयोग नमस्कार के लिये प्रयुक्त होता है, ठीक उसी तरह चीन के बौद्धों में 'अमिताभ' शब्द प्रचलित है। तिब्बत में भी अमिताभ की पूजा खूब होती है। अमिताभ का भले ही ऐतिहासिक अस्तित्व कुछ न हो पर वे चीन और तिब्बत की बौद्ध जनता के जीवन में उसी तरह घुलमिल गए हैं जिस तरह राम और कृष्ण भारतीय जनता के जीवन में।

अमिताभ की पौराणिक कथा यों है—

"एक समय भगवान् राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर विहार कर रहे थे। भगवान् के चेहरे की चमक बहुत उज्ज्वल हो रही थी, जिसे देख आनन्द ने भगवान् से कहा कि भगवन्, आपके चेहरे की चमक इससे पहले इस तरह की नहीं देखी। जान पड़ता है भगवान् सर्वज्ञता विहार से विहार कर रहे हैं तथा अतीत, अनागत और प्रत्युत्पन्न (=वर्तमान) बुद्धों का स्मरण कर रहे हैं। भगवान् ने आनन्द से कहा : साधु! साधु! आनन्द, तुम बड़े प्रतिभावान् हो जो इस तरह की बात तथागत से पूछ रहे हो। सुनो, मैं कहता हूँ।

बहुत कल्प बीत गए जब लोकेश्वर राज नामक तथागत अर्हत् सम्यक्सम्बुद्ध हुए थे। उनके प्रवचन में एक परम श्रद्धालु धर्माकर नाम का भिक्षु था। उसने भगवान् से कहा : 'भगवन्, मैं सम्यक्सम्बोधि प्राप्त करना चाहता हूँ। भगवान् मुझे उस धर्म का उपदेश करें जिससे मैं शीघ्र सम्यक्सबोधि प्राप्त कर सकूं और उन बातों को बताएँ (तांश्चाकारान् परिकीर्तयतु) जिससे मैं बुद्धक्षेत्रों की गुणव्यूहसम्पदा को जान सकूं।' तब भगवान् ने भिक्षु के अभिप्राय को जान करोड़ों (एकाशीतिबुद्धकोटीनियुतशत सहस्राणाम्) बुद्धों के बुद्धक्षेत्रों की गुणव्यूहसम्पदा को पूरे करोड़ वर्ष तक कहा। उन तथागत की आयु चालीस कल्प थी।

धर्माकर भिक्षु ने सुनकर भगवान् से कहा : 'भगवान् सुनें—मेरे जो सकल्प हैं, जिस तरह के अचिन्त्य गुणोंवाला मेरा बुद्धक्षेत्र होगा जब मैं सम्यक्सम्बोधि प्राप्त करूंगा। यदि उस बुद्धक्षेत्र में नरक, प्रेतयोनि, असुर हों, लोगों का रङ्ग एक सा सोने जैसा न हो, उसमें रहने वाले देव-मनुष्यों में नाम को छोड़कर यदि कोई और भेद (=नानात्व) हो, उसमें रहनेवाले प्राणी यदि परम ऋद्धि को प्राप्त न हों—अपने पूर्व जन्मों का स्मरण न करें—दिव्यचक्षुवाले

न हों—दिव्य श्रोत्रवाले न हों—परचित्तविद् न हों—उनमें यदि ज़रा भी परिग्रह का भाव हो, उसमें रहनेवाले यदि जब तक चाहें तब तक जीते रहनेवाले न हों, उसमें अकुशलता का नाम भी हो, तो मैं उस बुद्ध क्षेत्र में सम्यक्-सम्बोधि न प्राप्त करूँ।'

इस तरह संकल्प (=प्राणिधान) कर धर्माकर भिक्षु बोधिसत्त्व हो गए और छ: पारमिताओं का अभ्यास करते अप्रमेय-असख्य बुद्धों की उन्होंने सेवा की तथा सम्यक्-सम्बोधि को प्राप्त किया।

आनन्द ने भगवान् से पूछा : 'धर्माकर भिक्षु सम्यक्-सम्बोधि पाकर परिनिर्वृत हो गए या इस समय हैं?'

भगवान् ने कहा : 'आनन्द, वे हैं, अतीत नहीं हुए। यहाँ से पश्चिम की ओर कोटिनियुतशतसहस्रतम बुद्धक्षेत्र सुखावती लोकधातु में अमिताभ तथागत अपरिमाण बोधिसत्त्वों और अनन्त अर्हतों के साथ हैं। उनकी आभा (=चमक) की मिति या माप न होने से वे अमिताभ कहलाते हैं। उनकी आयु भी अमित है इसलिये वे अमितायु भी कहलाते हैं। वह सुखावती रमणीय है। उसमें अक्षणों* की उत्पत्ति (जन्म) नहीं होती। सुखावती में सुख की जो कारण-सामग्री है, उसका वर्णन कल्प भर में भी नहीं पूरा हो सकता।'

आनन्द ने भगवान् से कहा : 'भगवन्, अमिताभ तथागत और उन बोधिसत्त्वों को देखना चाहता हूँ।'

आनन्द के कहने के साथ ही अमिताभ बुद्ध ने अपनी हथेली से इस तरह की रश्मि निकाली कि करोड़ों (कोटिनियुतशतसहस्रतम) बुद्धक्षेत्र साफ दिखाई पड़ने लगे। उस समय सुखावती लोकधातु के देव, मनुष्य, श्रावक, और बोधिसत्त्वों को सहाधातु में शाक्यमुनि भिक्षुसंघ सहित दिखाई पड़ने लगे।

तब भगवान् ने अजित बोधिसत्त्व को संबोधन कर कहा : 'अजित, तुम उस (सुखावती) बुद्धक्षेत्र की गुणव्यूहसम्पदा को देख रहे हो।' अजित ने कहा 'देख रहा हूँ भगवन्'।"

अमिताभ और सुखावती दोनों ही इस धरती पर देखे और सुने नहीं जा सकते। पर मनुष्य के मन के भीतर अमिताभ और सुखावती की सृष्टि को देख लेना दुर्लभ नहीं है। मनुष्य मरना नहीं चाहता, वह अमित काल तक ठहरना चाहता और अमित सुख के बीच रहना

---

* अक्षण आठ हैं :—१. नरकयोनि, २. प्रेतयोनि, ३. तिर्यक्‌योनि, ४. म्लेच्छ जाति में जन्म, ५. दीर्घ आयुवाली देवयोनि, ६. मिथ्या दृष्टि, ७. बुद्धानुत्पाद और ८. मूकता—

"नरकप्रेततिर्यंचो म्लेच्छा दीर्घायुषोऽमराः।
मिथ्यादृग्बुद्धकालारौ मूकताद्यविहेक्षणाः॥" [बोधिचर्यावतारपंजिका १।४]

चाहता है। अमिताभ और सुखावती दोनों ही इन दोनों भावनाओं के प्रतीक हैं। अमिताभ और सुखावती का बौद्धधर्म में प्रवेश एक महान् क्रान्ति है। सुख और अमितकाल तक जीवन की बात प्रकृत बौद्ध विचारधारा का प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती। अनित्य-दु ख-अनात्म के सिद्धान्त के साथ इस प्रकार के आदर्श का कोई भी मेल नहीं है। बुद्ध ने इस प्रकार की भावना को मार कहा है। बकब्रह्मसूत्र (मज्झिमनिकाय ब्रह्मनिमतणिक पृष्ठ १९४-१९५) में सर्वथा इस तरह की बात का प्रत्याख्यान किया गया है। उसकी सक्षिप्त कथा यों है—

"बक ब्रह्मा को यह मिथ्या धारणा हो गई कि उसका लोक जरामरण से परे है। भिक्षुओ, यह बात जानकर मैं ब्रह्म लोक पहुँचा। बक ब्रह्मा ने दूर से मुझे आते देखा। देख कर मुझसे कहा 'आओ मार्ष, स्वागत मार्ष, यह लोक जरामरण से परे है।'

ऐसा कहने पर मैंने बक ब्रह्मा से कहा : 'अविद्या में पड़ा है, बक ब्रह्मा अविद्या में पड़ा है जो जरामरणवाले को जरामरण से परे कहता है।' तब मार एक ब्रह्म पार्षद के शरीर में प्रविष्ट हो मुझसे बोला 'मत इन ब्रह्मा का अपमान करो, अरे मार्ष, मत ब्रह्मा के वचन का अतिक्रमण करो।' ऐसा कहने पर भिक्षुओ, मैंने मार से कहा 'पापी, मैं तुझे जानता हूँ, मत समझ कि मैं तुझे नहीं जानता। पापी, तू मार है। पापी, जो ब्रह्मा है जो ब्रह्म परिषद् है, और जो ब्रह्म पार्षद हैं, सभी तेरे वश मे हैं किन्तु मैं तेरे वश में नहीं हुआ हूँ।"

जरा-मरणहीन जीवन की कल्पना को बुद्ध ने मारावेश—मारकतृष्णा की सनक—कहा है पर सुखावती उसी से ग्रस्त है। सुखावती ने जीवन के जिस स्वरूप का चित्र खींचा है वह कुछ बातों को छोड़कर ब्राह्मणों द्वारा वर्णित पौराणिक स्वर्ग का चित्र है। सुखावती-जैसी वस्तु का बौद्ध साहित्य में प्रवेश साफ साफ़ बतलाता है कि बौद्ध लोग किस तरह अपने विरोधी सिद्धान्तों को नाम मात्र का हेर फेर कर अपने अन्दर स्थान देते जा रहे थे। यह क्यों हो रहा था? पहला कारण बाह्य प्रभाव है। अपने चारों ओर की वस्तुओं से अपने को बचा लेना कठिन होता है। पर इतना भर ही कारण नहीं है। बाह्य बातों से प्रभावित होने का यह अर्थ नहीं है कि कोई अपना आत्मघात ही कर बैठे। सुखावती का बौद्धधर्म में प्रवेश उनके लिये आत्मघात जैसा ही है। क्योंकि उससे धार्मिक जीवन का जो लक्ष्य आंख के सामने आता है वह निश्चय ही उनका नहीं, दूसरों का है। 'सब दुःखम्' की बात कहनेवाला यदि सुख की बड़ी बड़ी बातें कहने लगे तो निश्चय ही उसका मन बदल गया समझना पड़ेगा। जान पड़ता है, किसी बहुत ही बड़े धर्मसंकट के अवसर पर सुखावती का बौद्धधर्म में प्रवेश हुआ।

अमिताभ की तरह ही अक्षोभ्यव्यूह में अक्षोभ्यबुद्ध, करुणापुण्डरीक में पद्मोत्तर बुद्ध

की चर्चा है। और भी कितने ही बुद्धों का ज़िक्र है। पर उनकी अतिकथाओं का मानुषी जीवन के लिए बहुत थोड़ा मूल्य है। उन अनेक बुद्धों में पाँच ध्यानी बुद्धों की चर्चा महायान के उस युग में आती है जब वह तन्त्रयान में बदल चुका था। ध्यानी बुद्धों के नाम हैं—वैरोचन, अक्षोभ्य, रत्नसम्भव, अमिताभ, और अमोघसिद्धि। ये पाँचों बुद्ध जो पहले कितनी ही अतिकथाओं से बँधे थे, बाद में केवल साधना के प्रतीक होकर रह गए। रूपस्कन्ध की वैरोचन के रूप में, विज्ञानस्कन्ध की अक्षोभ्य के रूप मे, वेदनास्कन्ध की रत्नसम्भव के रूप में, संज्ञा स्कन्ध की अमिताभ के रूप में, और संस्कारस्कन्ध की अमोघ सिद्धि के रूप में चर्चा होने लगी। ध्यान के आलम्बन रूप में इन बुद्धों को ग्रहण किया गया इसलिये इनको ध्यानी बुद्ध कहा जाता है। इन ध्यानी बुद्धों में वैरोचन के साथ समन्तभद्र, अक्षोभ्य के साथ वज्रपाणि, रत्नसम्भव के साथ रत्नपाणि, अमिताभ के साथ पद्मपाणि अवलोकितेश्वर, अमोघसिद्धि के साथ विश्वपाणि बोधिसत्त्व जुड़े हुए हैं जो अपने बुद्धों के साथ स्वय भी साधना के प्रतीक मात्र है। इनकी तथा मञ्जुघोष (मञ्जुश्री), आकाशगर्भ, क्षितिगर्भ आदि बोधिसत्त्वों की चर्चा महायान साहित्य में मिलती है। जो स्थान ब्राह्मणों में सरस्वती को प्राप्त है ठीक वही स्थान बौद्धों में मञ्जुघोष को प्राप्त है। अन्तर इतना हो है, सरस्वती जहां स्त्री हैं वहाँ मञ्जुघोष पुरुष है। दूसरी विशेषताएँ दोनोंमें एक जैसी हैं। वज्रपाणि या वज्रिन् वैदिक इन्द्र से बहुत मिलते-जुलते हैं जिन्हें देखते ही यमदूत रफ़ूचक्कर हो जाया करते हैं।

बोधिसत्त्वों में जिनका चरित्र बौद्धसाधना का बहुत कुछ ठीक ठीक प्रतिनिधित्व करता है वे हैं अवलोकितेश्वर। इन्होंने बुद्धत्वप्राप्ति से तब तक के लिये इनकार कर रक्खा है जब तक सब प्राणी दु.खनिर्मुक्त न हो जाए। इनका मुख्य व्रत है धर्मदेशना करना तथा जो दु:खी है उनका दु ख दूर करना। करण्डव्यूह में नरकलोक के दुःखियों के परित्राण के लिये इनके नरक में घुसने का वर्णन है। इनके पहुँचते ही नारकीय अग्नि शान्त हो गई; वहां के प्राणी बहुत सुखी हो गए। वे प्रेतलोक में भी पहुँचे। क्षुधा और प्यास से पीड़ित प्रेतों को इनके पहुँचते ही भोजन और पेय सुलभ हो गए।

अवलोकितेश्वर का यह रूप जिसे बुद्ध होने की आकांक्षा नहीं, केवल प्राणिमात्र के दु ख-हरण की आकांक्षा है, दुःख हरणार्थ नरकाग्नि में घुसना भी जिसे आनन्दकर जान पड़ता है, यथार्थ बौद्धसाधना का चित्र है।

पर अवलोकितेश्वर का एक दूसरा रूप भी है, जो बौद्ध विचारधारा के अनुसार हृदयगम नहीं है। उसकी एक बानगी यों है—

"अवलोकितेश्वर की आँखों से सूर्य और चंद्र, भ्रू से महेश्वर, स्कन्धों से ब्रह्मप्रमुख

देवता, हृदय से नारायण, किनारे केदो दांतों से सरस्वती, मुख से वायु, पैरों से पृथिवी, और उदर से वरुण उत्पन्न हुए।"

इस वर्णन को पढ़कर पुरुषसूक्त का यह मन्त्र याद आए बिना नहीं रहता—

"चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो सूर्योऽजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत॥"

ब्रह्मा के कर्तृत्ववाद का प्रत्याख्यान करनेवाले बुद्ध के अनुयायी अवलोकितेश्वर के रूप में ब्रह्मा की दासता स्वीकार करने लगेंगे, यह कौन विश्वास करे? पर अविश्वास का कोई कारण नहीं। महायान का सहारा लेकर उसमें जो बातें घुसीं वे सब न तो महायान के सिद्धान्तानुकूल हैं और न वे बौद्ध विचारधारा की वस्तुएँ हैं। ब्रह्मविहार और पारमिताएं ही महायान धर्म की मूल वस्तुएं है। विविध प्रकार की अतिकथाएं तथा वह सब सामग्री जो अनित्य-दुःख-अनात्मवाद के सिद्धान्त तथा प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम से विरोध रखती है, बाहर से आई। किसी न किसी रूप में इससे साधारण जनता को ज़रूर कुछ सहारा मिला होगा क्योंकि उस समूह में जहां प्रायः सब को जगत् के किसी बनानेवाले पर भरोसा हो, वहां थोड़े से बुद्धिवादी उसे न मानकर कब तक टिके रह सकते थे। दार्शनिक और तत्त्वचिन्तक भले ही कुछ मानते रहे हों पर जनसाधारण के ख्याल से उन्हें भी अवलोकितेश्वर को ब्रह्मा की जगह देनी पड़ गई।

अवलोकितेश्वर बौद्ध तथा ब्राह्मणधर्म के परस्पर मिश्रण के महत्त्वपूर्ण सकेत हैं। उनकी उत्पत्ति करण्डव्यूह के अनुसार आदिबुद्ध से मानी जाती है। ठीक यही बात वैष्णवों के अनुसार है जो विष्णु से ब्रह्मा की उत्पत्ति मानते हैं। आदिबुद्ध विष्णु के दोषहीन स्वरूप हैं और अवलोकितेश्वर ब्रह्मा के परिमार्जित रूप, वैष्णवों के विष्णु और ब्रह्मा ही बौद्धरूप में आदिबुद्ध और अवलोकितेश्वर हैं। यद्यपि विचारकों ने आदिबुद्ध तथा इस तरह की दूसरी कल्पनाओं को नहीं माना, पर यह कहना ठीक है कि इस तरह की कल्पनाओं का उनमें बहुत कुछ अनिच्छा के साथ प्रवेश हो ही गया।

अतिकथाओं में गुँथे बुद्ध और बोधिसत्त्वों को छोड़कर शाक्यमुनि का बुद्ध और बोधिसत्त्वरूप हमारी इस धरती के रेणु रेणु से व्याप्त है। अमिताभ और अवलोकित को आश्चर्य के साथ सुना जाता है; भौतिक रूप से उनका सम्बन्ध हमसे नहीं है। बोधिसत्त्व और बुद्ध शाक्यमुनि की कथाएँ इस धरती की कथाएँ हैं। वे यहां के गावों, नगरों, खेतों, बाग-बगीचों, वनों, तालाबों, नदियों और पर्वतों से जुड़ी हुई हैं और वे तब तक बनी रहेंगी जब तक इस धरती पर इन सबकी सत्ता है। वाल्मीकि ने राम की कथा के बारे में कहा था कि जब

तक इस धरती पर नदी और पर्वत रहेंगे तब तक लोगों में रामायणी कथा प्रचलित रहेगी। बुद्ध के बारे में तो यह बात और भी साहस के साथ कही जा सकती है। रामायणी कथा भारत की चहार दीवारी पार कर कुछ द्वीपों में ज़रूर पहुँची पर अपने को भारत के अतिरिक्त जीवित न रख सकी पर बुद्ध और बोधिसत्त्वों की कथाएँ सुदूर लंका, बर्मा, स्याम, तिब्बत, चीन, जापान तक आज भी फैली हुई जनता की जिह्वा पर नृत्य कर रही हैं और करती रहेंगी। अतएव बाल्मीकि के शब्दों में यह कहना ठीक ही होगा कि—

"यावत्स्थास्यन्ति गिरय सरितश्च महीतले।
तावत् 'तथागतकथा' लोकेषु प्रचरिष्यति ॥"

बुद्ध और बोधिसत्त्वों का हमारी धरती से बहुत गहरा सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध अतिकथाओं द्वारा और भी दृढ़ हो गया है और उसका टूटना कथमपि सम्भव नहीं है। कारण, "अविनिवर्तनीय बोधिसत्त्व यहीं इस जम्बूद्वीप के मध्यदेश में ही उत्पन्न होते हैं जहाँ पर प्राणी कलाकोविद, काव्यकोविद, मन्त्रकोविद, विद्याकोविद, शास्त्रकोविद, और धर्मार्थकोविद हुआ करते हैं। इस तरह के लोग मध्यदेश में ही अधिकतर होते हैं। प्रत्यन्त देशों में ऐसे लोग बहुत थोड़े हुआ करते हैं और जो होते हैं वे भी बड़े नगरों में होते हैं।" (अष्टसाहस्रिका, पृष्ठ ३३६)। इतना ही नहीं "बोधिसत्त्व दो कुलों में उत्पन्न होते हैं: क्षत्रिय कुल में या ब्राह्मण कुल में। जब पृथिवी क्षत्रियाक्रान्त होती है तब क्षत्रियकुल में उत्पन्न होते हैं, जब पृथिवी ब्राह्मणाक्रान्त होती है तब ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होते हैं" (महावस्तु II पृष्ठ १)। यह बात सुनने में ज़रा प्रिय नहीं लगती। बुद्ध तो ब्राह्मण और क्षत्रिय भेदों को सर्वथा काल्पनिक मानते हैं, जन्मश्रेष्ठता के अभिमानी क्षत्रियों और ब्राह्मणों को श्रेष्ठ न मानकर विद्याचरण को ही श्रेष्ठ समझते हैं और कहते हैं—

"तदमिनापि जानाथ यथामेदं निदस्सन।
चण्डालपुत्तो सोपाको मातंग इति विस्सुतो ॥
सो यस परम पत्तो मातंगो य सुदुल्लभ।
आगच्छु तस्सुपट्ठान खत्तिया ब्राह्मणा बहू।" (सुत्तनिपात)

—इस उदाहरण से भी जान लो कि जाति से मनुष्य की श्रेष्ठता या नीचता नहीं होती, क्योंकि मातंग नामक चाण्डालपुत्र ने (श्रमण होकर) बड़ा यश पाया और उसकी सेवा में बहुत से क्षत्रिय और ब्राह्मण उपस्थित होते थे; उनके लिये यह कहा जाए कि वे दो ही क्षत्रिय और ब्राह्मणकुलों में होते हैं। क्षत्रिय होना, या ब्राह्मण होना श्रेष्ठता का सूचक नहीं किन्तु

"विज्जाचरणसम्पन्नो सो सेट्ठो देवमानुसे" जिसमें विद्या और आचरण हो वही देवताओं में तथा मनुष्यों मे श्रेष्ठ है। इस प्रकार के कुल में बोधिसत्त्व का होना ठीक है। पर उस पुराने युग में जब क्षत्रियों और ब्राह्मणों के अभिमान का कोई ठिकाना न था, कोई कैसे दूसरों को अपने से श्रेष्ठ कह सकते थे और यह किस तरह बरदाश्त कर सकते थे कि बोधिसत्त्व उनके कुल में न होकर दूसरे कुल में हों।

इसी तरह की और भी कितनी ही बातें बोधिसत्त्व के जन्म के साथ जुड़ी हैं, जो बहुत रोचक हैं तथा पौराणिक चरित्रों के साथ तुलना करने में बहुत उपयोगी हैं। "तुषित भवन से इस पृथिवी पर अवतार (=च्यवन) लेने के समय चातुर्महाराजिक देवताओं के साथ देवसहस्र इकट्ठे हुए। बिम्बिसार प्रभृति को आज्ञा हुई कि तुम राजगृह में उत्पन्न होओ, तुम्हारे विनीत होने पर जनता विनयमार्ग ग्रहण करेगी। इस तरह अभय सार्थवाह तथा दूसरे महाशाल (=बड़े बड़े मकानवाले) गृहपति उत्पन्न हुए। उदयन से कहा गया कि तुम कौशाम्बी में उत्पन्न होओ, तुम्हारे विनीत होने पर जनता विनयमार्ग ग्रहण करेगी। इस तरह घोषिल तथा दूसरे महाशाल क्षत्रिय और गृहपति उत्पन्न हुए। इस तरह महाशाल क्षत्रिय, ब्राह्मण, और गृहपतिकुलों में भगवान् के संसार में आने से देवपुत्रसहस्र उत्पन्न होते हैं।" (महावस्तु पृष्ठ २) पौराणिक अवतारों के वर्णनों में देवताओं का पृथिवी पर जन्म लेना इस तरह योजना के साथ होता दिखाई पड़ता है। बोधिसत्त्व की माता तथा उनकी गर्भस्थिति और जन्म के बारे में यों कहा गया है: "बोधिसत्त्व माता की खोज करते हैं जो कुलीन, शरीर से पवित्र, मन्दराग (थोड़े रागवाली हो) जिसकी अल्प आयु शेष हो—दस मास और सात दिन जिसकी आयु के रह गए हों। (महावस्तु १२) शाक्यमुनि का जन्म गर्भदिवस से दस महीने पर हुआ था और सात दिन के बाद उनकी माता का देहावसान हो गया था। यह ऐतिहासिक घटना ही बोधिसत्त्वों की माता के बारे में अतिकथा बन गई है। यही नहीं, और भी दूसरी बातों ने अतिकथा का रूप धारण किया है "पुण्य नक्षत्र से युक्त पूर्णिमा की रात्रि को बोधिसत्त्व माता की कोख में प्रवेश करते हैं। और पूरे दस मास होने पर उत्पन्न होते हैं।" बोधिसत्त्व के गर्भप्रवेश करने पर माता की मुखकान्ति भास्वर हो जाती है, उसे कोई क्लेश नहीं होता, आदि सभी बाते पुराण के वर्णनों से बहुत सादृश्य रखती हैं। बोधिसत्त्व का जन्म भी साधारण लोगों की तरह नहीं होता। माता की योनिमार्ग से वे बाहर नहीं आते प्रत्युत कोख विदारकर प्रकट होते हैं और उससे माता को क्लेश नहीं होता। जन्म समय के इन सब चमत्कारी वर्णनों को आगमानुसार अश्वघोष ने बुद्धचरित में गूथा है—

"ऊरोर्यथौर्वस्य पृथोश्च हस्तान्मांधातुरिन्द्रप्रतिमस्य मूर्ध्नः ।
काक्षीवतश्चैव तथांसदेशात्तथाविध तस्य बभूव जन्म ॥
अनाकुलान्युब्जसमुद्गतानि निष्पेषवद्व्यायतविक्रमाणि ।
तथैवधीराणि पदानि सप्त सप्तर्षितारासदृशो जगाम ॥
बोधाय जातोऽस्मि जगद्धितार्थमन्त्या भवोत्पत्तिरियममेति ।
चतुर्दिश सिंहगति विलोक्य वाणीं च भव्यार्थकरीं मुमोच ॥
तथागतोत्पादगुणेन तुष्टाः शुद्धाधिवासाश्च विशुद्धसत्त्वाः ।
देवा ननन्दुर्विगतेऽपि रागे मानस्य दुःखे जगतो हिताय ॥
वातावबुः स्पर्शसुखा मनोज्ञा दिव्यानि वासांस्यवपातयन्त ।
सूर्य. स एवाभ्यधिक चकाशे जज्वालसौम्यार्चिरनोरितोऽग्निः ॥"

जैसे और्व का जन्म जांघ से, पृथु का हाथ से, इन्द्रतुल्य मान्धाता का मस्तक से काक्षीवान का कांख से वैसे ही बोधिसत्त्व का जन्म (पार्श्व से) हुआ। सप्तर्षि तारा के समान बोधिसत्त्व सात पग चले, उन्होंने लम्बे और अविचल पग धैर्यपूर्वक सीधे उठाकर दृढ़ता के साथ रक्खे। सिंह के समान गतिवाले बोधिसत्त्व ने चारों ओर देखकर भविष्यद्-वाणी को कि 'जगत् के हित के लिये ज्ञान अर्जन करने के लिये मैं जन्मा हूँ, ससार में यह मेरी अन्तिम उत्पत्ति है।' उस प्रकार के जन्म होने के गुण से सन्तुष्ट होकर विशुद्ध स्वभाववाले शुद्धाधिवास देवता, स्वय रागरहित होने पर भी, दु:खमग्न जगत् का हित सोचकर प्रसन्न हुए। स्पर्श से सुख देनेवाली मनोहर वायु दिव्यवस्त्रों को गिराती हुई बहने लगी। सूर्य पहले से अधिक चमका। बिना सुलगाए ही आग सौम्य शिखाओं के साथ प्रज्वलित होने लगी।

इस प्रकार के सुन्दर और मनोहर वर्णन आगमों में भरे पड़े हैं पर उनका रस यहाँ पर नहीं चखा जा सकता। यहा तो उनके आचमन मात्र से सन्तोष करना पड़ेगा। पर इतने से यह ख्याल बना लेना बहुत सहज है कि महापुरुषों के जीवन के विषय में भारतीय परम्परा किस तरह सोचती है। उनके भौतिक जीवन को किस तरह दिव्यता के साथ जोड़ कर दिव्यता की कामनावालों के लिये तृप्ति की सामग्री एकत्रित कर देती है। इस तरह के लोकोत्तर वर्णन बौद्धों, जैनों और ब्राह्मणों के साहित्य में बहुत कुछ समानता लिए मिलेंगे। यह ज़रूरी भी है। आया ये सब एक ही धरती की उपज हैं, एकही धरती आगे-पीछे उत्पन्न हुए हैं, सो उनका समान रूप होना ठीक ही है। मानसिक उड़ान में भले ही विविध रूपता हो पर उससे इस ठोस धरती को सर्वदा भुलाया नहीं जा सकता है और न उसके प्रभाव से ही अपने को बचाया जा सकता है।

घ—भक्ति, पूजा, आराधना और सेवा

महायान ही नहीं सामान्यतया बौद्धधर्म में भक्ति और ज्ञान का समान रूप से आदर है। बुद्ध की सभी शिक्षाएँ शील, समाधि और प्रज्ञा के विभाग में विभक्त हैं। शील और समाधि भक्ति के ही रूप हैं। महायान ने भक्ति पर बहुत ज़ोर दिया है। महायान की भक्ति के स्वरूप को समझने के लिये पूजा एवं आराधना के सब प्रकारों पर एक दृष्टि डालना बहुत ज़रूरी है। सात या नौ तरह की पूजाएं हैं—

१—वन्दना	४—पापदेशना	७—याचना
२—पूजना	५—पुण्यानुमोदना	८—बोधिचित्तोत्पाद
३—शरणगमन	६—बुद्धाध्येषणा	९—बोधिपरिणामना

वन्दना और पूजना केवल धार्मिक साधना की ही वस्तुएँ नहीं हैं प्रत्युत भारतीय शिष्टाचार की जीवित वस्तुएँ हैं। बुद्ध ने वन्दना के विषय में कहा है—

यं किञ्चि यिट्ठं व हुत व लोके
सवच्छर यजेथ पुञ्ञपेक्खो।
सब्ब पि त न चतुभागमेति
अभिवादना उज्जुगतेसु सेय्यो॥

पुण्य की कामना से यदि कोई वर्षभर यज्ञ-हवन करे, तो वह सब सरलचित्तों की अभिवादना से जो श्रेय मिलता है, उसके चौथाई भाग के भी बराबर नहीं होता।

धम्मपद तथा मनुस्मृति में अभिवादन के विषय में एक मिलता जुलता वचन है जिसमें कहा गया है कि अभिवादन करनेवाले वृद्धसेवी की चार बातें बढ़ती हैं—आयु, वर्ण (सुन्दरता), सुख और बल। वर्ण और सुख की जगह मनुस्मृति में विद्या और यश हैं। वर्ण का अर्थ यश भी होता है। दोनों वचन यों है—

"अभिवादनसीलस्स निच्चं वद्धापचायिनो।
चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति आयु वण्णो सुख बलम्॥" धम्मपद ८।१०
"अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥" मनु० २।१२१

मनु ने अभिवादन की अर्थवादात्मक व्याख्या भी की है जो बहुत रोचक है। मनुने समझाया है कि बड़े बूढ़ों के आने पर छोटे लोगों के प्राण उत्क्रमण करना चाहते हैं—ऊपर निकल

कर भाग जाना चाहते है। प्रत्युत्थान और अभिवादन के द्वारा उन्हे फिर से ठहराया जाता है। इसलिए अभिवादन करना चाहिए—

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यून स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां ततस्तान्प्रतिपद्यते॥

खैर, प्राण चाहे उत्क्रमण करते हों या नहीं, पर अभिवादन भारतीय शिष्टाचार की ही नहीं सम्पूर्ण सभ्य जगत् की वस्तु है। फिर धार्मिक साधना में उसका रहना और प्रधान स्थान पाना कुछ अचरज की बात नहीं है। हाँ, इतना फर्क ज़रूर है कि बौद्ध धर्म में बुद्ध तथा और सब गुरुजन वन्दनीय समझे जाते हैं। देवताओं को वन्दना से खारिज कर दिया गया है। फिर भी उनके सत्कार करने की बात ज़रूर कही गई है। उनका निरादर नहीं किया गया है। पूजा के बारे में भी यही बात है।

बुद्ध ने पूजा के महत्व को बतलाते कहा है कि "जो कोई हर महीने हज़ार दक्षिणा देकर सौ बरस तक यज्ञ करता रहे और जो कोई मुहूर्त भर महात्माओं की पूजा करे, उनमें सौ बरस यज्ञ करने की अपेक्षा वह पूजा ही श्रेयस्कर है--

मासे मासे सहस्सेन यो यजेथ सत सम।
एक च भवितत्तान मुहुत्तमपि पूजये।
सा एव पूजना सेय्यो य चे वस्स सत हुतं॥" धम्मपद ८ ७

षोडश उपचारों के साथ पूजा करने की पद्धति भारत में बहुत पुराने समय से है। कितने ही उपचार तो ऋचाओं मे स्पष्ट रूप से आए हैं। देहोपचार, भोग, आह्वन, मन प्रेम भावना और स्तुति के द्वारा इन्द्र की चर्चा का उल्लेख है—

"कोई इन्द्र की पूजा करते हैं। अनन्तर कोई पुरोडाश प्रस्तुत करके इन्द्र को देते हैं। उस समय सोमाभिषव करनेवाले यजमान अनभिषुत सोमवाले यजमान को धन से पृथक् कर देते हैं। उस समय कोई अभीष्टवर्षी इन्द्र के उद्देश से यज्ञ करने की अभिलाषा करते हैं। जो सोमाभिलाषी स्वर्गलोकस्थित इन्द्र के उद्देश्य से अभिषव करते हैं उन्हें इन्द्र धनदान करते हैं। एकान्त चित्त से इन्द्र की अभिलाषा करनेवाले तथा सोमाभिषव करनेवाले यजमान के साथ सग्राम में इन्द्र मित्रता करता है। जो इन्द्र के लिये सोमाभिषव करते हैं, जो पुरोडाश प्रस्तुत करते हैं और जो भर्जनयोग्य जौ को भूँनते हैं, उसी स्तोत्रकारी के स्तोत्र को स्वीकार करके इन्द्र यजमान की अभिलाषा के पूरक बल को धारण करते हैं—

आदिद्ध नेम इन्द्रियं यजन्ते आदित्पक्तिः पुरोडाश रिरिच्यात्।
आदित्सोमो विपपृच्यादसुष्वीनादिज्जुजोष वृषभं यजध्यै॥

कृणोत्यस्मै वरिवो य इत्था इन्द्राय सोमसुशते सुनोति ।
सध्रोचोनेन मनसा विवेनन्तमित्सखाय कृण्णुते समत्सु ॥
य इन्द्राय सुनवत्सोममद्य पचात्पक्तोरुत भृज्जाति धाना· ।
प्रतिमनायो रुचयानि हर्यन्तस्मिन्दधद्वृषण शुष्ममिन्द्र ॥" ऋक् ४।२४।५,६,७

वदिक और पौराणिक पूजा में उतनो पूण उत्सर्गभावना नहीं है जितनी की बौद्धधर्म में महायान के भीतर तथा मध्यकालीन सन्तों के भीतर है। बोधिसत्त्व पूजा करते समय बाह्य उपचारों का दास नहीं है। उसे बाह्य उपचार जुटाने को ज़रूरत नहीं। यदि उसके पास भौतिक उपचार हैं तब तो वह उनका उत्सग करता ही है, यदि नहीं तो वह अपने उस मन को ही समर्पित करता है जिसमें सभो उपचारों को आकांक्षाएं भरी हैं। वह पुष्प, फल, भैषज्य, मनोहर जल, अन्न आदि सब कुछ स्थूल रूप में उपहृत करने के लिये उत्सुक नहीं है। क्योंकि यह वस्तुएँ उसके पास कभी हो भी सकती हैं और कभी नहीं भी। पर उसका मन सदा उसके साथ है और वह मनसे चाहता है कि जो कुछ भी उसके पास उत्तम है, प्रणीत है वह सब उत्सग कर दे। इसी भाव से वह कहता है कि "सब तरह से, सम्पूर्ण अपने आत्मभाव को मैं बुद्धों और बोधिसत्त्वों को भेंट करता हूँ, अग्रसत्त्वो ! मुझे ग्रहण करो। मैं भक्ति से तुम्हारा दास हूँ—

ददामि चात्मानमहं जिनेभ्यः
सर्वेण सर्वं च तदात्मजेभ्य
परिग्रहं मे कुरुताग्रसत्त्वा
युष्मासु दासत्वमुपैमि भक्त्या ।"

पूर्णतया आत्मसमर्पण के बाद वह जो कुछ करता है वह सब दासभाव से, सेवाभाव से। वह बुद्धों-बोधिसत्त्वों को गाजे बाजे के साथ स्नान कराता है, सुगन्धित वस्त्रों से उनका शरीर पोंछता है, उन्हे सुन्दर वस्त्र पहनाता है, अलकारों से अलकृत करता है, गन्ध अपण करता है, माल्य (पुष्प) उपहार देता है, धूप-दीप से पूजा करता है, नैवेद्य लगाता है, छत्र धारण कराता है। गाजे-बाजे के साथ उत्सव मनाता है। चैत्य और प्रतिमाओं पर पुष्पवर्षा कर उन्हे पूजता है। स्तुति करता है। प्रणाम करता है। इस तरह उससे जो कुछ सम्भव है, सब करता है। अत्यन्त भावुक होते हुए भी पागलपने के साथ नाचना गाना नहीं करने लगता, प्रत्युत सावधान रहकर ही पूण सेवा करता है।

इस तरह पूजा कर बुद्ध, धर्म और संघ को शरण जाता है। केवल मन से ही नहीं वाचा से भी वह घोषित करता है—

बुद्ध सरण गच्छामि। धम्म सरण गच्छामि। सघ सरण गच्छामि।
दुतिय पि बुद्ध सरणं गच्छामि। दुतिय पि धम्म सरण गच्छामि।
दुतिय पि सघं सरण गच्छामि। ततियं पि बुद्ध सरण गच्छामि।
ततियं पि धम्म सरण गच्छामि। ततिय पि सघ सरण गच्छामि॥

शरण-गमन के अनन्तर वह पापदेशना करता है। अपने किए हुए पापों को स्वीकार करता है और उन्हें फिर न करने को प्रतिज्ञा करता है। पापदेशना के अनन्तर वह पुण्यानुमोदना करता है। पुण्य की बातों को हृदय से चाहता और समथन करता है। बुद्धों से अध्येषणा करता है—धर्मदेशना के लिये उनसे प्रार्थना करता है। ससार में चिरकाल तक रहने के लिये उनसे प्रार्थना करता है और स्वय बोधि के लिये प्रणिधान कर उस मार्ग पर जो कि पारमिताओं का मार्ग है, चल पड़ता है। बोधि के लिये प्रणिधान और प्रस्थान करने से वह बहुत पुण्य का सचय करता है। वह सब पुण्य और अपने आपको प्राणिहित के लिये निछावर करते हुए कहता है—

आत्मभावांस्तथा भोगान् सर्वत्र्यध्वगत शुभम्।
निरपेक्षस्त्यजाम्येष सर्वसत्त्वार्थसिद्धये॥

शरीर, भोग, तीनकालों के पुण्य इन सबको, सब प्राणियों के हित के लिये निरपेक्ष भाव से उत्सर्ग कर रहा हूँ।

सक्षेप से बौद्ध पूजा का यह स्वरूप है। इस पूजा में कहीं भी अपने आपकी बात नहीं सोची गई है। सब कुछ परार्थ है, सदसत्त्वार्थ है, बस इसीकी एकमात्र धुन है। इसमें कहीं भी अपनी मुक्ति, अपना निर्वाण, अपने लिये सुख पाना लक्ष्यभूत नहीं है।

इस पूजा के अतिरिक्त कल्याणमित्र की सेवा का भी बौद्ध साधना में बहुत बड़ा स्थान है। कल्याणमित्र कौन होता है? असग ने आगम का अनुसरण करते कहा है: "जो दान्त है—जिसने इन्द्रियों का दमन किया है, जो शान्त है—जिसने समाधि द्वारा शान्ति प्राप्त कर ली है, जिसने उपस्थित क्लेश को शान्त करने का अभ्यास कर रक्खा है, जिसमे अपने से अधिक गुण हैं, जो दूसरे के हित के लिये उद्यमशील रहता है, जो बहुश्रुत है, जिसे तत्त्वज्ञान है, जो व्याख्यान कर सकता है—बात को समझा सकता है, जिसमें निस्स्वार्थकरुणा है, जो धर्म करते कभी नहीं थकता; ऐसे मित्र का आश्रय लेना चाहिए—

मित्र श्रयेद्दान्तशमोपशान्तं गुणाधिक सोद्यममागमाढ्य।
प्रबुद्धतत्त्व वचसाभ्युपेत कृपात्मकं खेदविवर्जित च॥ महायान सूत्रालकार १७, १०

यदि इस तरह का मित्र न मिले जो बुद्धिमान् साथी, साधुविहारी धीर सहचर हो सकता

है तो विजित राष्ट्र को छोड़ देनेवाला राजा जिस तरह रहता है तथा मातंग हस्ती जिस तरह जंगल में रहता है, उसी तरह रहना चाहिए। मूर्ख की दोस्ती से अकेले रहना अच्छा होता है—

"नो चे लभेत निपक सहाय सद्धिचर साधु विहारि धीरं।
राजाव रट्ठं विजितं पहाय एको चरे मातङ्गऽरञ्ञेव नागो ॥"
"एकस्स चरितं सेय्यो नत्थि बाले सहायता ॥" धम्मपद २३।१० और ११

पूजा और सेवा का वर्णन करते असंग ने कहा है कि इन दोनों के लिये १—आश्रय, २—वस्तु, ३—निमित्त, ४—परिणामना, ५—हेतु ६—ज्ञान ७—क्षेत्र और ८—निश्रय इन सात बातों का ख्याल रखना चाहिए—

"आश्रयाद्वस्तुत. पूजा निमित्तात् परिणामनात्।
हेतुतो ज्ञानत क्षेत्रान्निश्रयाच्च प्रदर्शिता ॥" महायान सूत्रालंकार १७। ५, १०

पूजा के आश्रय प्रत्यक्ष और परोक्ष बुद्ध हैं। वस्तु से अभिप्राय चीवर आदि भौतिक पदार्थों से है। निमित्त पवित्र और श्रद्धा सहित चित्त है। परिणामना पुण्यज्ञान संभार की परिपूर्ति के लिये होती है। हेतु वह प्रणिधान (संकल्प) होता है जो जा प्राणियों के हितार्थ बुद्ध होने के लिये किया जाता है। ज्ञान शून्यता की भावना है जिससे सब प्रकार के विकल्प चले जाते हैं। क्षेत्र सब प्राणी हैं जिनके लिये पारमिताओं का अभ्यास किया जाता है। निश्रय दो तरह के होते हैं, एक उपधि और दूसरा चित्त। चीवरादि से की गई पूजा उपधिनिश्रित होती है। अनुमोदना आदि के द्वारा की गई पूजा चित्तनिश्रित होती है।

सेवा का आश्रय कल्याण मित्र होता है। वस्तु उसका सत्कार, लाभ और परिचर्या करना है। जिज्ञासा, कालज्ञता—समय की पहचान और निर्मानिता यह तीन सेवा के निमित्त होते हैं। प्रतिपत्ति अर्थात् कर्तव्य ज्ञान के लिये (लाभ सत्कार के लिये नहीं) सेवा करना परिणामना है। आज्ञा के अनुसार चलना सेवा का हेतु है। तीन यानों का ज्ञान प्राप्त करना ही ज्ञान है। अपरिमेय प्राणी और बुद्धक्षेत्र सेवा के क्षेत्र हैं। धर्मदायाद होना सेवा का निश्रय है, आमिष (धन) दायाद होना नहीं।

पूजा और कल्याण मित्र की सेवा दोनों ही बोधिसत्त्वों के प्रमुख धर्म के रूप हैं और इन दोनों का एकमात्र उद्देश्य परहित साधना है।

३—महायान दर्शन

क—दार्शनिकविकास की परम्परा

प्राचीन काल के मनुष्य जिस तरह संसार के बारे में सोचते थे और जिस तरह उनकी सन्तानें नई बातें सोचने-विचारने लगीं, उसका पता बहुत कुछ क्रम से जानने के लिये कालक्रम से पोथियों पर निगाह डालनी पड़ती है। पुराने ज़माने की ओर जब हम आँख उठाकर देखते हैं तो जान पड़ता है कि सब मनुष्य एक ही तरह से नहीं सोचते रहे थे। मतों की विविधता बहुत पुरानी चीज़ है। इस विविधता के होने से ही पुराने लोग अपने अपने मतों के प्रति अधिक ममता के कारण एक दूसरे के मतों की खरी-खोटी चर्चा किया करते थे। इस चर्चा में अपनी बात की तारीफ़ तथा दूसरे की बात की निन्दा करना बहुत साधारण बात हुआ करती थी। कभी कभी तो बातों बातों में लड़ाई झगड़ा हो जाता था। पर जब विविधता है तब उसकी चर्चा न हो, यह सम्भव नहीं। चर्चा होने पर लोग यदि गरम होकर लड़ने लगें तो भी वह ठीक नहीं। इसलिये शुरू शुरू में इस तरह की चर्चा करने के नियम अवश्य रहे होंगे। निश्चय ही शुरू शुरू में नियम बहुत साधारण कोटि के होंगे और उनका ऊपरी ध्येय यही होगा की चर्चा के बीच झगड़ा न हो। बाद में दूसरे नियम बने होंगे जिनका मुख्य सम्बन्ध चर्चा से रहा होगा। पुराने लोग अनेक तरह की चर्चा किया करते थे। धर्म के कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रहने वाली चर्चा किसी वक्त में खूब होती होगी। वह चर्चा किस तरह होती होगी? छान्दोग्योपनिषद् में एक नमूना यों है—

"तीन उद्गीथ में चतुर थे, शिलक शालावत्य, चैकितायन दाल्भ्य, और प्रवाहण जैवलि। उन्होंने कहा हम सब उद्गीथ में चतुर हैं, आओ उद्गीथ के विषय में कथा (=शास्त्रार्थ) करें। ऐसा ते कर वे बैठ गए। प्रवाहण जैवलि ने कहा, भगवान् पहले बात करें। ब्राह्मणों की बात-चीत सुनूँगा। शिलक शालावत्य ने दाल्भ्य से कहा कि मैं तुमसे पूछना चाहता हूँ। उसने कहा पूछो।

(प्रश्न) साम का क्या गति है?

(उत्तर) उसने कहा स्वर।

(प्रश्न) स्वर की गति क्या है?

(उत्तर) प्राण।

(प्रश्न) प्राण की गति क्या है ?

(उत्तर) अन्न।

(प्रश्न) अन्न की गति क्या है ?

(उत्तर) जल।

(प्रश्न) जल की गति क्या है ?

(उत्तर) वह लोक।

(प्रश्न) उस लोक की गति क्या है ?

(उत्तर) स्वर्ग लोक का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। हम स्वर्ग में ही साम को प्रतिष्ठित करते हैं।

शिलक शालावत्य ने चैकितायन दाल्भ्य से कहा, तुम्हारा साम प्रतिष्ठित नहीं है। यदि कोई इस समय कह दे कि तुम्हार सिर गिर जाए तो ज़रूर गिर जाएगा।

तो भगवान मुझे बताएं।

बताता हूँ, (बोलो!) :—

(प्रश्न) उस लोक की क्या गति है ?

(उत्तर) यह लोक।

(प्रश्न) इस लोक की क्या गति है ?

(उत्तर) प्रतिष्ठा लोक का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए। हम प्रतिष्ठा लोक में साम प्रतिष्ठित करते हैं। ...

प्रवाहण जैवलि ने उससे कहा, शालावत्य! तुम्हारा साम अन्तवान है। यदि कोई इस समय कह दे कि तुम्हारा सिर गिर जाए तो ज़रूर गिर जाएगा। . . .

तो भगवान मुझे बताए।

बताता हूँ, (बोलो!)

(प्रश्न) इस लोक की क्या गति है ?

(उत्तर) आकाश।... आकाश ही इन सबसे बड़ा है. . . "

(छान्दोग्य उपनिषद्, प्रथम अध्याय, अष्टम खंड)

इसी तरह के और भी बहुत से नमूने हैं। बहुत साफ़ है कि इस तरह के संवादों में विशेष सूक्ष्म तर्क नहीं होते थे। 'तुम्हारा सिर गिर जाएगा!'' जैसी बातें धार्मिक संवादों के बीच ऋषियों द्वारा बोला जाना भी बहुत भद्दी सी बात जान पड़ती है।

पर ज्यों ज्यों समय बीतता गया कथा या चर्चा के बीच गभीरता आने लगी। बुद्ध के समय पहुँचते पहुँचते कथा में बारीक और युक्तिसगत तर्क प्रचुरता से बरते जाने लगे। बुद्ध से पहले जिन बातों को कपोल कल्पित ढग से कहा जाता था उनका मूल्य न रह गया। प्राचीन ब्राह्मणमन्त्रकर्ताओं का कहना था कि ब्राह्मण इसलिये श्रेष्ठ हैं कि वे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए हैं। श्रेष्ठता का यह तर्क बुद्धयुग में भी बरता जाता था पर उसको युक्तिसगत मनवा लेना सभव न था। अब पुराने समय से दुनिया बहुत बदल गई थी, मन्त्रों, ब्राह्मणों, और उपनिषदों के युग से अब बहुत परिवर्तन हो चुका था। मज्झिमनिकाय के अस्सलायनसुत्त में इस बदले हुए ज़माने की झलक यों है—

"भगवान् श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। आश्वलायन ब्राह्मण बहुत से ब्राह्मणों के साथ उपस्थित हुआ और उचित स्थान पर बैठकर नम्रतापूर्वक भगवान् से कहने लगा—

गोतम, ब्राह्मण लोग ऐसे कहा करते हैं : 'ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, और दूसरे सब हीन वर्ण हैं। ब्राह्मण लोग ही शुक्लवर्ण हैं और दूसरे सब कृष्णवर्ण हैं। ब्राह्मण लोग ही शुद्ध हैं और दूसरे सब अशुद्ध हैं। ब्राह्मण लोग ही ब्रह्मा के औरस पुत्र हैं, वे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए हैं .. .ब्राह्मण लोग ही ब्रह्मा के वारिस (=दायाद) हैं'। गोतम, इस विषय में आप का क्या मत है ?

भगवान—आश्वलायन, तुमने अवश्य देखा होगा कि ब्राह्मणों के घर ब्राह्मणी स्त्रियां ऋतुमती होती हैं, गर्भ धारण करती हैं, प्रसव करती हैं, अपने बच्चों को दूध पिलाती हैं। तब फिर इस प्रकार स्त्री की योनि से उत्पन्न होते हुए भी ब्राह्मण लोग ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने का बड़प्पन और अहकार क्यों करते हैं ?

क्या आश्वलायन तुमने सुना है कि यवन, कम्बोज, तथा दूसरे सीमाप्रान्तों में दो ही वर्ण होते हैं— आर्य और दास। आर्य से दास हो सकता है और दास से आर्य हो सकता है।'

आश्वलायन—... हां भगवान्, सुना है।

आश्वलायन, तब ब्राह्मण लोग किस बल पर कहते हैं कि ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है, दूसरे नहीं ?"

बुद्ध के बाद कथा में तर्क और भी साफ़ सुथरे तथा प्रामाणिक आधारों पर होने लगे।

विभिन्न विषयों को लेकर कथा करने की परम्परा में ही दर्शन का विकास हुआ। शुरू शुरू में दर्शन और धर्म दो चीज़ें न थीं। प्राचीन युग की धर्म विषयक कथाएं ही प्राचीन दर्शन की आरम्भिक अवस्था को सूचित करती हैं। धर्म और दर्शन बुद्ध युग के बहुत बाद तक इसी तरह साथ साथ चलता रहा और बाद में उसकी चर्चा अलग से होने लगी। इस

चर्चा के विषय धार्मिक ही हुआ करते थे और सचमुच धर्म की तार्किक व्याख्या ही दर्शन है। जिस धर्म को लोग सुना करते थे, आचरण और ध्यान किया करते थे उसकी कुछ प्रमुख बातों की व्याख्या ही दर्शन है, यह बहुत पूर्व काल में होनी शुरू हो गई थी पर धर्म के भीतर छिपी थी, उसका अलग अस्तित्व न था। दर्शन को धर्म से अलग करके जिसने पहले पहल इस शास्त्र की नींव डाली होगी वह निश्चय ही बड़ा बुद्धिमान् व्यक्ति रहा होगा। पर वह व्यक्ति है कौन ? दर्शन की जो पोथियाँ प्राप्त हैं उनसे जान पड़ता है कि स्वतन्त्र रूप से जिन्होंने दर्शन की प्राण प्रतिष्ठा की उनका कालक्रम यों रहा होगा—

१—नागार्जुन [ई० दूसरी शताब्दी]
२—कणाद [ई० दूसरी शताब्दी ?]
३—अक्षपाद (नैयायिक) [ई० तीसरी शताब्दी का पूर्वार्ध]
४—पतञ्जलि [ई० तीसरी शताब्दी का पूर्वार्ध]
५—जैमिनि [ई० तीसरी शताब्दी का उत्तरार्ध]
६—बादरायण [ई० तीसरी शताब्दी का उत्तरार्ध]
७—वात्स्यायन [अक्षपाद के न्यायसूत्रों के भाष्यकार ई० चौथी शती का उत्तरार्ध]
८—असग, वसुबन्धु [ई० चौथी शताब्दी]
९—दिग्नाग (नैयायिक) वसुबन्धुशिष्य [चौथी शती का अंतिम चरण तथा पाँचवीं शती का प्रथम चरण]
१०—ईश्वरकृष्ण (सांख्य) [वसुबन्धु के समकालीन]

भारतीय परम्परा में कपिल को आदि विद्वान् और सांख्यशास्त्र का प्रवक्ता कहा जाता है। पर इनके मत की जो सबसे पुरानी और प्रामाणिक पोथी प्राप्त है, वह है ईश्वर कृष्ण के सांख्यकारिका, जो वसुबन्धु के समय में ईश्वर कृष्ण द्वारा लिखी गई। सांख्यसूत्र कारिका के बहुत बाद की रचना हैं। प्राचीन ग्रन्थों में इनके उद्धरण नहीं मिलते। दूसरी बात यह कि कपिल जैसे प्राचीन ऋषि, जिन्हें परम्परा बहुत ही प्राचीन बताती है। सूत्र रचना करने बैठे होंगे यह समझ में नहीं आता। उन्होंने प्रवचन किए होंगे जो निश्चय ही बड़े रोचक विविध प्रकार की अतिकथाओं से युक्त होंगे, क्योंकि प्राचीनकाल के प्रवचनों में सूत्र जैसे छोटे छोटे वाक्य होते होंगे इस कथन को प्रमाणित करना अत्यन्त कठिन है। उपनिषदों में प्राचीनतम छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदें काफी संक्षेप से बात को कहती हैं पर उनमें विविध प्रकार की कथा और दृष्टान्तों की पुट है जो प्राचीनकाल की ग्रन्थरचना की शैली को बतलाती है। उपनिषदें प्रायः कथा के रूपमें है। बौद्धपिटक के सूत्र भी बहुत कुछ इसी प्रकार के हैं।

हाँ भाषा और शैली में वे उपनिषदों से अधिक रोचक और विशद हैं। कपिल के प्रवचन भी आरम्भ में इसी तरह के होंगे। ईश्वरकृष्ण को परम्परा से जो साख्यशास्त्र (=षष्टितंत्र) मिला था वह इसी प्रकार का था। उसमे कथाए (=आख्यायिकाए) थीं, दूसरे मतों की चर्चा थी। वह कोरी दार्शनिक विवेचना का ग्रन्थ न होकर धर्मग्रन्थ था, जिसके भीतर दर्शन की उड़ान थी। उसीसे दार्शनिक विवेचना को व्यवस्थित कर ईश्वरकृष्ण ने अपनी कारिकाएं बनाईं (दे० सांख्यसप्तति की अन्तिम तीन कारिकाए)। इसलिये कपिल का सिद्धान्त चाहे जितना पुराना क्यों न हो, उनके दर्शन का व्यवस्थित रूप बहुत नया है। ब्राह्मणों के छः दर्शनों में कपिल को छोड़कर बाक़ी दूसरी से चौथी शती के बीच में प्रतिष्ठित हुए। यह बात नागार्जुन के पहले और पीछे उत्पन्न दार्शनिक सिद्धान्तों की आलोचना इन ग्रन्थों में देखकर कहनी पड़ती है। प्रमाणों की निरपेक्षता के सिद्धान्त पर विग्रहव्यावर्तिनी में नागार्जुन ने जो आक्षेप किये उनका खण्डन न्यायसूत्रों में मिलता है। वाचस्पति द्वारा न्यायसूत्रों का जो सकलन 'न्यायसूची-निबन्ध' के नाम से है, उसमें दूसरे अध्याय के प्रथमाह्निक में दूसरा प्रकरण तेरह सूत्रों का है। इन सूत्रों में उन्हीं सब बातों का खण्डन है जिनका कि विग्रहव्यावर्तिनी में प्रतिपादन है। सो नागार्जुन और अक्षपाद का पूर्वापर भाव पूरे तौर पर निश्चय है। कणाद के सिद्धान्तों का अक्षपाद ने अपने न्यायसूत्रों में उदाहरण विधया कथा के विषय के रूप में प्रयोग किया है सो अक्षपाद से वह पहले के ज़रूर हैं पर वे नागार्जुन से पहले के नहीं हैं।

नागार्जुन और उनसे पूर्व के ग्रन्थों में कणाद के तत्त्ववाद का पता नहीं चलता। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छ पदार्थों का तत्त्ववाद भारतीय दर्शन में नई चीज़ ज़रूर है पर उसकी परम्परा को पुरानी अनुश्रुति से मिलाना सम्भव नहीं है। इस प्रकार के तत्त्ववाद का पता ब्राह्मण बौद्ध और जैनों के साम्प्रदायिक साहित्य में नहीं खोजा जा सकता जब पतजलि के योग, जैमिनि की मीमांसा, और बादरायण के शारीरिक सूत्र परम्परा से बधे है। कपिल का सांख्य भी अधिक कर परम्परा के भीतर की ही चीज़ है। यदि यह ग्रन्थ तथा इनके परिवार ग्रन्थ न रहें तो भी उनके सिद्धान्त परम्परागत साहित्य भीतर बिखरे हुए मिल जाएंगे पर कणाद के वैशेषिक सूत्र तथा दूसरे परिवार ग्रन्थ यदि विलुप्त हो जाएं तो पुराने साहित्य में उसके निशान को पाना भी मुश्किल हो जाएगा। वैशेषिक सूत्र भारतीय परम्परा में एक अनोखे ढग का तत्त्ववाद है जिसे अक्षपाद और उनके बाद के नैय्यायिकों ने समर्थन किया है और बौद्ध नैयायिकों ने खण्डन किया है। यवन दार्शनिक अरस्तू ने द्रव्य, गुण, परिमाण, सम्बन्ध दिशा, काल, आसन, स्थिति, कर्म और परिणाम इन दस पदार्थों में विश्व का वर्गीकरण किया है। द्रव्य, गुण, कर्म, सम्बन्ध (=समवाय) दोनों मतों में समान हैं। दिशा और काल को कणाद

ने द्रव्यों में गिना है (दर्शनदिग्दर्शन पृ० ५८०) परिमाण को गुणों में। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अरस्तू और कणाद में बहुत समानता है। यह समानता यदि आकस्मिक है तो निश्चय ही आश्चर्यजनक है। यदि यह यवन और भारत के सांस्कृतिक आदान-प्रदान का फल है तब बात बहुत कुछ समझ में आ जाती है। दूसरी शती के मध्यभाग में साकल (स्यालकोट) नगर में यवन राजा मिलिंद और बौद्धपण्डित नागसेन के परस्पर संवाद की चर्चा है। मिलिन्द नागसेन से बहुत प्रभावित होता है और बौद्धधर्म स्वीकार करता है। बौद्धधर्म के माध्यम द्वारा यवन और भारतीय संस्कृतियों के आदान प्रदान का यह एक उदाहरण है। इस तरह के आदान प्रदान का ही फल वैशेषिक दर्शन जान पड़ता है। यदि इस बात को न मानें तो वैशेषिक तत्त्ववाद तथा परमाणुवाद के सिद्धान्त भारतीय परम्परा से बहुत-कुछ विच्छिन्न और अलग-से जान पड़ते हैं। पतञ्जलि के योग के सिद्धान्त सिद्धान्त के रूप में बहुत पुराने हैं। पर उपलब्ध सूत्रों में क्षणिक विज्ञानवाद की आलोचना है फलत उसे क्षणिक विज्ञानवादी दर्शन से परवर्ती होना ही चाहिये। क्षणिक विज्ञानवाद का सिद्धान्त चाहे जितना पुराना माना जाए वह नागार्जुन से पहले का नहीं है। लङ्कावतारसूत्र, जो क्षणिक विज्ञानवादियों के लिये प्रमुख सूत्र ग्रन्थ है, नागार्जुन के बाद का है। उसमें नागार्जुन का ज़िक्र करके कहा है, दक्षिणदेश ..... के महान् यशस्वी श्रीमान् भिक्षु नागाह्वय (नागार्जुन) .महायान का लोगों को उपदेश दे सुखावती लोक को जायेंगे—

"दक्षिणापथवेदल्यां भिक्षु श्रीमान्महायशा. ।
नागाह्वय' स नाम्ना तु सदसत्पक्षदारकः ॥
प्रकाश्य लोके मद्यान महायानमनुत्तर ।
आसाद्य भूमिं मुदितां यास्यतेऽसौ सुखावतीम् ॥" लङ्कावतारसूत्र पृ० २८६

बादरायण और जैमिनि एक दूसरे का उल्लेख करते हैं सो इनको समकालीन होना ही चाहिये। बौद्धों के दार्शनिक सिद्धान्तों का बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में खण्डन किया है। नागार्जुन प्रतिष्ठापित शून्यवाद का उसमें खण्डन होने से वह भी नागार्जुन के बाद का ही है। वात्स्यायन स्वय टीकाकार हैं फलतः उन्हें स्वतन्त्रचेता दार्शनिकों के भीतर नहीं गिना जा सकता। नागार्जुन ने जिस प्रकार माध्यमिक (शून्यवाद) सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की उसी तरह असंग और वसुबन्धु ने विज्ञानवाद (योगाचार) सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। असग अधिक मनन ऊहापोह करने के स्थान पर ध्यान और चिन्ता-परायण धार्मिक साधक हैं पर वसुबन्धु में धार्मिकता के अतिरिक्त बुद्धि की तीक्ष्णता अधिक थी। बौद्धों के सब सिद्धान्तों—मतवादों को हृदयगम कर समझा देना इनका विशेष गुण रहा है। इनका अभिधर्मकोश सर्वास्तिवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादक ग्रन्थ है।

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि विज्ञानवाद के सिद्धान्त का समर्थन करने के लिये लिखी गई है। चीनी भाषा में अनुवाद किए गए इनके छोटे से ग्रन्थ बोधिचित्तोत्पादसूत्र शास्त्र का अध्ययन करते मुझे शून्यवाद की स्पष्ट व्याख्या मिली। इनके शिष्य दिग्नाग ने नये सिरे से तर्क की प्रतिष्ठा की। जिसमें अपने समय तक की विचारधारा की पूरी समीक्षा की। दिग्नाग के बाद भारतीय दर्शन में बहुत ही कम नई बातों का जन्म हुआ। नागार्जुन से दिग्नाग तक का समय अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। नागार्जुन और वसुबन्धु ने महायान दर्शन को, प्रतिष्ठा की दोनों के दर्शन में परस्पर भेद ज़रूर है पर दोनों की धर्मसाधना में भेद नहीं है।

नागार्जुन से पहले का बौद्ध दर्शन प्रतीत्यसमुत्पाद के आधार पर पंचस्कन्धों के क्षणिक-वाद या अनित्यवाद का सिद्धान्त है। इस दर्शन के अवान्तर विशेषों का वर्णन न तो रोचक ही है और न उपयोगी है, वह वस्तुतः धार्मिक कल्पनाओं का संग्रह है जिसकी यत्र तत्र पीछे कुछ चर्चा हुई भी है। कनिष्क के समय, पहली शती ई० के चतुर्थपाद में त्रिपिटक पर विभाषा टीका बनी जिसमें बहुत लोगों का हाथ रहा। विभाषा का अर्थ है विशिष्ट भाषा = भाष्य या टीका। इस विभाषा के अनुयायी वैभाषिक कहलाए। चौदहवीं शती के सर्वदर्शन संग्रह के लेखक माधवाचार्य ने वैभाषिक का अर्थ "उलटा-पुलटा बोलनेवाला" किया। जान पड़ता है कि माधवाचार्य के समय बौद्ध-परम्परा बहुत कुछ लुप्त हो चुकी थी और इसीसे उन्हें विभाषा टीका का ज्ञान न था तथा वे यह स्पष्ट बात नहीं अनुभव कर सके थे कि किसी चीज़ का उलटा-पुलटा अर्थ करना, जैसी तैसी व्याख्या कर देना, ठीक नहीं। विभाषा को जहां कितने ही लोग मानने लगे वहां कितनों ही ने नहीं भी माना। वे लोग सौत्रान्तिक (मूल सुत्रान्त को माननेवाले) कहलाए। नागार्जुन से पहले यह दोनों सम्प्रदाय खूब फलफूल चुके थे। इनमें परस्पर भेद बहुत कम है। दोनों ही सर्वास्तिवादी हैं—यह मानते हैं अस्तित्व अर्थात् क्षणिकसत्ता अतीत, प्रत्युत्पन्न और अनागत तीन क्षणों से सम्बन्ध रखती है—तीन कालों से सम्बद्ध है। पर पदार्थों की इन्द्रिय-प्रत्यक्षप्रक्रिया में दोनों का मतभेद है। वैभाषिक बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी हैं, सौत्रान्तिक बाह्यार्था-नुमेयवादी। यहां सत्ता के तीन क्षणों से सम्बन्ध होने की बात ध्यान में रखने की है।

ख—शून्यवाद

शून्यवाद शब्द लोगों को एकबार घबराहट में डाल देता है। नागार्जुन ने अपने दर्शन में इस शब्द द्वारा जिस अर्थ का संकेत किया है उसको यदि जान लिया जाए तो बहुत कुछ घबराहट दूर हो जाती है। प्रतीत्यसमुत्पाद की चर्चा ऊपर हो चुकी है। नागार्जुन ने

प्रतीत्यसमुत्पाद को शून्यता कहा है। इस शून्यता के उन्होंने दो और नाम दिए हैं—उपादाय-प्रज्ञप्ति और मध्यमा प्रतिपद्। उपादाय-प्रज्ञप्ति को किसी दूसरे प्रतिशब्द से बताना कठिन है। उसका अभिप्राय यह है कि हर एक प्रज्ञप्ति (= व्यवहार) अपने-आपमें अकेली नहीं हुआ करती। रथ एक प्रज्ञप्ति है पर वह पहिया, ढचा, बल्ली, रस्सी, जुआ आदि सब को लेकर (= उपादाय) ही होती है। इसी तरह और दूसरी प्रज्ञप्तिया भी अपने आप में अकेली न होकर बहुत सी चीज़ों को लेकर होती हैं। प्रज्ञप्ति का अपने आप में स्वतन्त्र या निरपेक्ष न होकर सापेक्ष या दूसरी बातों को लेकर (= उपादाय) होने का नाम ही उपादाय प्रज्ञप्ति है। भाव और अभाव के बीच—शाश्वत और उच्छेद के बीच—की राह का नाम मध्यमा प्रतिपद है—

"य प्रतीत्य समुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा॥" माध्यमिक कारिका २४।१८

इस तरह की शून्यता के सहारे उन्होंने सत्ता (= पदार्थों के अस्तित्व) के सापेक्षवाद का प्रतिपादन किया 'कर्म कर्म के करनेवाले के बिना नहीं हो सकता। जब कर्म होता है तब कर्म का करनेवाला भी होता ही है। सो कर्म और उसको करनेवाला अर्थात् कारक अपनी अपनी सिद्धि के लिये परस्पर की अपेक्षा रखते है। यह एक उदाहरण है। वस्तुतः प्रत्येक सत्ता का यही हाल है। सब की सिद्धि सापेक्ष ही है। "माध्यमिक कारिका ८।१२, १३" सत्ता की सिद्धि सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। इसी का नाम शून्यवाद है। शून्यवाद निरपेक्ष सत्ता की सिद्धि से इन्कार करता है। शकर ने इसे ही 'सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध' ब्रह्मसूत्र २।२।३४ पर कहा है। इस शून्यवाद का विकास प्रतीत्य समुत्पाद पर अवलम्बित है। प्रतीत्यसमुत्पाद अशाश्वत और अनुच्छेद वाद का स्थापन करता है, जिसे ललितविस्तर में यों समझाया गया है बीज होने पर अकुर होता है पर बीज ही अकुर नहीं है, और बीज से पृथक् अथवा उससे भिन्न कुछ और वस्तु भी अकुर नहीं है। अतः बीज शाश्वत, स्थिर टिकाऊ, या नित्य नहीं है (क्योंकि उसका अकुर रूप में परिवर्तन देखा जाता है)। वह उच्छिन्न या नष्ट भी नहीं होता (क्योंकि अकुर बीज ही का तो रूपान्तर है)—

"बीजस्य सतो यथाङ्कुरो
न च यो बीजु स चैव अकुरो।
न च अन्यु ततो न चैव
तदेव मनुच्छेद अशाश्वत धर्मता॥" ललितविस्तर पृष्ठ २१०

माध्यमिककारिका पृष्ठ २६ शिक्षासमुच्चय पृष्ठ २३८, ३३९

यह एक उदाहरण है जिसके द्वारा सिद्धान्त का स्पष्टीकरण है। प्रत्येक वस्तु अपने कारण से उत्पन्न होती है। कार्य कारण से न तो अन्य या भिन्न ही होता है और न अनन्य या अभिन्न ही। कार्यकारण से अन्य होता तो कारण का उच्छेद मानना पड़ता, यदि कार्य अनन्य अभिन्न अर्थात् कारण रूप होता तो उसे शाश्वत या नित्य मानना पड़ता। पर दोनों बातें नहीं है इसलिये न कोई शाश्वत है और न किसी का उच्छेद होता है। यह अशाश्वतानुच्छेदवाद सकारणता और परिवर्तन के नियम के आधार पर विकसित हुआ है।

जिस अशाश्वतानुच्छेदवाद की पद पद पर बौद्धदर्शन में चर्चा है उसको पूर्वपक्ष के रूप में कहीं भी ब्राह्मण और जैन दर्शनों ने छुआ तक नहीं। यह सचमुच बड़े आश्चर्य में डालनेवाली बात है। जहां भी बौद्धदर्शन की आलोचना की गई है वहां सर्वत्र उसे उच्छेदवादी दिखलाया गया है—अभाववादी बतलाया है। शंकर ने साफ साफ़ कहा है कि सौगत दर्शन ठीक नहीं है क्योंकि वे किसी कारण को स्थिर नहीं मानते, जिसका निष्कर्ष है अभाव से भाव की उत्पत्ति को मानना।' (ब्रह्मसूत्र २।२।२६ पर) बौद्धदर्शन को शंकर ने 'वैनाशिक' भी कहा है। यद्यपि सम्पूर्ण बौद्ध वाङ्मय में से इस बात को ढूढ निकालना असम्भव है जहां उन्होंने अपने आपको वैनाशिक या विनाशवादी माना हो। हां, दूसरों ने यह बात थोपने की कोशिश ज़रूर की है जो सच नहीं है। पर इस ढंग की बातों का थोपा जाना असम्भव नहीं समझना चाहिए, क्योंकि न्याय दर्शन में छलबल से, जल्प और वितण्डा से दूसरों को चुपकर देना भी तत्त्वरक्षा का साधन समझा गया है (न्यायसूत्र ४।२।५०)। इसी मनोवृत्ति के कारण बौद्ध जिस रूप में अपने दार्शनिक सिद्धान्त मानते हैं, उनको उसी रूप में उपस्थित कर आलोचना नहीं की गई। अस्तु, अशाश्वतानुच्छेदवाद ही बौद्धों का अपना सिद्धान्त है। अशाश्वत और अनुच्छिन्न या परिवर्तनशील सत्ता में जो सत्ता की प्रतीति होती है वह भी निरपेक्ष नहीं है, क्योंकि कार्य की सत्ता कारण की सत्ता की अपेक्षा रखती है। चन्द्रकीर्ति ने इसीलिये प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ किया है 'हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पाद ।' (माध्यमिककारिका पृष्ठ ५) सो प्रतीत्य समुत्पाद कोरा सकारणता और परिवर्तन का नियम नहीं है प्रत्युत वह सत्ता की सिद्धि भी सापेक्ष मानकर निरपेक्षसत्ता का खण्डन करता है।

यह खण्डन प्रणाली बड़ी रोचक है। बिना किए कोई भी काम नहीं होता। कल्पना कीजिए किसी को रोटी बनानी है। रोटी बनाना काम है जो कि करना है सो रोटी का बनानेवाला कर्ता या कारक हुआ। रोटी, जिसे कि बनाना है वह, काम या कर्म हुई। पर इस काम के लिए कुछ करना धरना भी पड़ेगा, खाली बैठे रहने से तो काम नहीं चल सकता सो यह करना धरना या क्रिया भी इसके लिये चाहिए। पर इतने से भी काम नहीं चल सकता, रोटी के लिये

आटा चाहिए, पकाने के लिये चूल्हा आदि चाहिए। इन्हें 'कारण' शब्द से कह सकते हैं। रोटी का कारण आटा है और रोटी उसका कार्य है पर यदि हाथों से काम न लिया जाए तो तो यह कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता सो हाथ इसके करण हुए। इन कर्ता, कर्म, हेतु या कारण, कार्य की सिद्धि पर नागार्जुन के शब्दों में विवेचना करनी है।

यदि कर्म को स्वभावतः (=निरपेक्षतः) सत् मानें तो कर्म को कर्ता की ज़रूरत न रहेगी और कर्ता भी निकम्मा हो जाएगा क्योंकि उसके करने योग्य कर्म तो स्वभावसत् है ही फिर उसके करने का सवाल क्या? यदि यह माने कि कर्म स्वभाव से असत् है और वह असत् कर्ता द्वारा किया जाता है तब बड़ी आफ़त होगी। कर्म बिना हेतु के हो जाएगा और कर्ता को भी निर्हेतुक होना पड़ेगा। जब हेतु ही नहीं रहा तब कार्य कारण का सवाल हो क्या? कार्य और कारण की व्यवस्था ही जब नहीं रही तब किसी कर्म या काम के करने की बात ही नहीं उठती और कर्ता करण कोई चीज नहीं रहते। इस प्रकार जब कुछ करने धरने आदि की बात ही नहीं रही तब धर्म और अधर्म किसी की भी चर्चा करना बेकार है। (माध्यमिक कारिका ८ २-५)।

इसलिये स्वभावतः या निरपेक्षतः न तो सत्ता है और न अभाव ही है, प्रत्युत काम के लिये जैसे कर्ता या करनेवाले की अपेक्षा है वैसे ही कर्ता को काम या कर्म की अपेक्षा है। दोनों को बिना सापेक्ष माने सिद्धि नहीं हो सकती। सत्ता की सापेक्षसिद्धि मानने पर भी व्यवहार में विरोध नहीं आता, क्योंकि तत्त्वचिन्तक भी व्यवहार के समय लोक प्रमाण पर ही चलता है। लोक-प्रमाणक सत्य को 'सवृति सत्य' कहते हैं। सवृति सत्य के अनुरोध से सत्ता को निरपेक्ष कहना दोष नहीं पर परमार्थ सत्य के अनुरोध से उसकी सिद्धि सापेक्ष है। यह सापेक्षता, सकारणता और परिवर्तन का नियम ही नागार्जुन के मत से प्रतीत्य-समुत्पाद है। प्रतीत्य-समुत्पाद को ही उन्होंने शून्यवाद कहा है: 'यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे।' शून्यवाद के इतने स्पष्ट रहने पर भी यदि लोग उसे ऊल-जलूल समझते रहें तो इसमें शून्यवाद के प्रवर्तक का दोष ही क्या? 'नह्येष स्थाणोरपराधः, यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति।'

इसी सापेक्षता के अनुसार नागार्जुन ने कितनी बातों पर अपने विचार प्रकट किए है। वे विचार बड़े ही रोचक हैं। उनके रिमार्क बड़े तेज़ और मीठे हैं। उनकी कुछ बानगी देख लेना ठीक रहेगा।

शून्यता या सापेक्षतावाद के वाद का प्रयोजन है सब प्रकार की दृष्टियों को वैज्ञानिक ढंग से सोचना और यह समझना कि किस तरह विभिन्न सिद्धान्त एक दूसरे पर अपेक्षा भाव से

ठहरे है। संसार में न तो कोई बात निरपेक्ष है और न हो ही सकती है। यदि यह बात ठीक ढग से समझ ली जाए तो मनुष्य की बहुत सी उलझनें सुलझ जाती हैं। इन उलझनों को सुलझाने की शून्यता एक मात्र औषध है—साधना है। वह एक कसौटी है जिस पर विभिन्न दृष्टि कोणों को कसा जाता है। अपने आप में वह कोई दृष्टि नहीं है। यदि कोई शून्यता कोही एक दृष्टि मान कर उसके चक्कर में फस जाए तो वह बहुत ही बेकार की बात होगी। यदि उपमा के द्वारा इस बात को साफ़ करे तो कहना होगा शून्यता तराजू के समान है जिस पर विचारों की नाप जोख होती है। तराज़ू की डाँडी जिस तरह ऊँचाई और नीचाई से भार की कमी और ज्यादती को कूतती है, उसी तरह शून्यता विचारों और सिद्धान्तों की हलकाई और गरुआई कूतती है। शून्यता पर जो सिद्धान्त जितने गहए उतरने हैं वे उतने बुद्धिवादी के लिये सच्चे हैं सो शून्यता सिद्धान्त बुद्धों के द्वारा सब दृष्टियों के निस्सरण के लिये बताया गया है पर जो स्वय शून्यता दृष्टि जमा बैठे हैं उनका इलाज हो सकना सम्भव नहीं—

"शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निस्सरणं जिनै।
येषां तु शून्यता दृष्टिस्तानसाध्यान् बभाषिरे॥" माध्यामक कारका १३।८

सचमुच यदि शून्यता को न माना जाए तो जो सबसे बड़ी दुर्व्यवस्था होती है वह ससार के व्यवहारों को। मनुष्य क्षण भर भी निष्क्रिय नहीं हो सकता। जहाँ क्रिया है वहाँ परिवर्तन भी हुए बिना रह नहीं सकता। शून्यता परिवर्तनवाद का ही तो नाम है। शून्यता के न मानने पर जो सब से ज्यादा मज़ेदार बात होगी वह यह कि मनुष्य को यह भी मानना पड़ेगा कुछ करने-धरने की ज़रूरत नहीं है। किसी काम के लिये न तो कर्ता की ज़रूरत होगी और न कर्ता को कुछ करने की ज़रूरत होगी। ससार में न तो कुछ उत्पन्न ही होगा और न किसी चीज़ का निरोध ही होगा। ससार में जो विभिन्न प्रकार की विचित्रताएँ हैं वे नहीं रह जाएँगी। हर पदार्थ को स्वाभाविक मानने पर—उन्हें बिना किसी हेतु और प्रत्यय के मानने पर ससार कूटस्थ हो जाएगा—

'न कतव्य भवत् किश्चत् अनारब्धा क्रिया भवत्।
कारकः स्यादकुर्वाणः शून्यतां प्रतिबाधतः॥
अजातमनिरुद्ध च कूटस्थं च भविष्यति।
विचित्राभिरवस्थाभिः स्वभावे रहितं जगत्॥' माध्यमिक कारिका २४।३७,३८

पर इस तरह की कूटस्थावस्था को मनुष्य अपने दिमाग़ से सोच नहीं सकता। प्रतिक्षण बदलते

हुए ससार में रहने के लिये शून्यता ही एकमात्र सिद्धान्त है जो ससार की विभिन्न घटनाओं की ठीक व्याख्या कर सकता है और मनुष्य की निराशा पूर्ण अवस्था में उसे आशा दिला सकता है। शून्यता के सिद्धान्त के सहारे यह ठीक समझा जा सकता है कि प्रत्येक घटना सकारण है। कोई भी वस्तु ससार में आदि काल से नहीं चली आई है प्रत्युत विभिन्न परिस्थितियों ने उनका निर्माण किया है। प्रत्येक लौकिक और पारलौकिक सिद्धान्त, विश्वास, रस्मरिवाज, सामाजिक जीवन के नियम विभिन्न देशों में अपनी अपनी परिस्थितियों से बने हैं। ससार की सभी अच्छाइयाँ और बुराइयाँ मनुष्य के अपने प्रयत्नों का फल हैं और मनुष्य को इतना सर्वदा अधिकार है कि वह जब चाहे उन्हें जिस रूप में बदले। कोई चीज़ केवल इसलिये उपादेय नहीं हो सकती कि पूर्वकाल में उसे किसी ऋषि मुनि या महात्मा ने कह दिया था। ऋषि मुनि या महात्मा स्वय ही परिस्थिति के परिणाम हैं। जो उन महात्माओं में लोकोत्तरता का आरोप कर उनकी दुहाई देते हैं वे निश्चय ही अन्धे हैं। महात्मा लोग भी दुनिया से अद्भुत नहीं होते। बुद्ध में लोकोत्तरता स्थापित कर जो लोग आसमान उठाए ले रहे थे उन्हें लक्ष्य करते कहा गया है तथागत निःस्वभाव हैं अर्थात् वे एक खास परिस्थिति की उपज हैं और यह ससार भी उन्हीं की तरह निःस्वभाव या खास परिस्थिति की ही उपज है। जो स्वभाव तथागत का है वही स्वभाव जगत् का है। तथागत निःस्वभाव हैं, जगत् निःस्वभाव है। जो लोग तथागतको प्रपञ्चातीत—लोकातीत कहते हैं वे स्वय प्रपञ्चहत हैं—दुनिया ने उन पर गहरी चोट की है। (और शायद उसी चोट से घबराकर ये दुनिया से भाग रहे हैं पर भाग कर कहाँ जा सकते ?) उनमें आखें नहीं कि तथागत को देख सके—

> "तथागतो यत्स्वभावस्तत्स्वभावमिद जगत्।
> तथागतो निःस्वभावो निःस्वभावमिद जगत्॥
> प्रपचयन्ति ये बुद्ध प्रपचातीतमव्ययम्।
> ते प्रपञ्चहताः सर्वे न पश्यन्ति तथागतम्॥" माध्यमिक कारिका २४।३९, ३८

संसार के बारे में यह समझना कि ऐसा ही बना रहेगा या इसका खातमा हो जाएगा बहुत ग़लत निगाह है। शून्यता के सहारे यह समझना सरल है कि संसार एक परिवर्तन का प्रवाह है। उसमें निरन्तर परिवर्तन होते रहेंगे। उसके एक जैसा बने रहने या सर्वथा नष्ट हो जाने की कल्पना बुद्धिवादी को ग्राह्य नहीं हो सकती। इस बात को उदाहरण द्वारा समझना सरल है। जगत् ठीक उसी तरह बदल रहा है जिस तरह दीपक की लौ। पांचों स्कन्ध दीपक की लौ की तरह बदल रहे हैं उस परिवर्तन के चक्करदार प्रवाह में न तो कहीं अन्त है और न कहीं अनन्त

है। बिन्दुओं से बने वृत्त में जिस तरह प्रत्येक बिन्दु अपने अगलेवाले की अपेक्षा सान्त और अपने पिछलेवाले की अपेक्षा से अनन्त है उसी तरह संसार के परिवर्तन का गोल चक्कर अपेक्षा दृष्टि से ही सान्त या अनन्त है। वस्तुतः न तो वह अन्तवाला है और न अन्तहीन है। यदि पाँचों स्कन्ध परस्पर के प्रत्यय से पहली अवस्था का त्याग या भंग कर दूसरी अवस्था में उत्पन्न न हों तो लोक अन्तवाला हो सकता है। यदि उनका न भंग हो और न उत्पत्ति ही हो तो वे अनन्त हो सकते हैं—

"स्कन्धानामेष सन्तानो यस्माद्दीपार्चिषामिव ।
प्रवर्तते तस्मान्नान्तानन्तवत्त्वं च युज्यते ॥
पूर्वे यदि च भज्येरन्नुत्पद्येरन्नचाप्यमी ।
स्कन्धाः स्कन्धान्प्रतीत्येमानथ लोकोऽन्तवान् भवेत् ॥
पूर्वे यदि न भज्येरन्नुत्पद्येरन्नचाप्यमी ।
स्कन्धाः स्कन्धान्प्रतीत्येमान् लोकोऽनन्तो भवेदथ ॥"

माध्यमिक कारिका २७।२२-२४

जो भी हो, संसार के लिये शून्यता का सिद्धान्त बहुत ठीक है। वह समझ में भी आता है और व्यवहारिक भी है। पर यदि समझने में कुछ भूल हुई तो वह घातक अवश्य है। कोरे 'शून्यता' शब्द को देख कर उसका बिना ठीक अर्थ समझे जो लोग घबरा उठते हैं और यह ख्याल कर बैठते हैं कि दुनिया के लिये खतरा आ चुका है उनकी घबराहट तभी दूर हो सकती है जब वे इसे ठीक समझें। शंकर-जैसे विद्वान् और उनके अनुयायियों को इस सिद्धान्त से बड़ी घबराहट हुई थी—

"बाह्यार्थ, विज्ञान और शून्यवाद तीनों एक दूसरे से विरुद्ध हैं जिनका उपदेश करते सुगत ने अपनी असम्बद्ध-प्रलापिता प्रकट की है। 'विरुद्ध अर्थ के ज्ञान से यह सब प्रजाएँ मूढ़ हो जाएँ' इस भाव से (परस्पर विरुद्ध उपदेश) करते उन्होंने प्रजाओं के प्रति अपने द्वेष को प्रकट किया है। जो श्रेय चाहते हैं उन्हें सुगत समय (बौद्धमत) का बिलकुल आदर नहीं करना चाहिए।" ब्रह्मसूत्र २।२।३२ पर) इस तरह का आक्षेप करने में शंकर का उतना दोष नहीं जितना कि उस समय के अवैज्ञानिक समय का। शंकर को शायद पता ही नहीं था कि बुद्ध के बाद उनके समय तक किस प्रकार दार्शनिक विकास हुआ। बुद्धवचनों से किस तरह दार्शनिक वादों का विकास हुआ। बाह्यार्थास्तित्ववाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद क्रम से नहीं विकसित हुए। विज्ञानवाद से शून्यवाद अधिक पुराना है। शून्यवाद के सिद्धान्त और स्वरूप का शंकर को बिल्कुल पता न था और उन्होंने

उसे कहीं भी उद्धृत नहीं किया। खाली उसे 'सर्वप्रमाण-विप्रतिषिद्ध' कहकर बचने को कोशिश की है। यदि उसके तर्कों को वे लेकर उसकी समीक्षा करते तो शायद उनकी बात को आज अधिक महत्व दिया जाता पर ऐसा करने की शायद उन्हें ज़रूरत न थी। खैर, पुराने लोगों ने जो भूलें की सो कीं पर अब उनसे बचा जा सकता है। आज यह समझना कठिन नहीं है कि शून्यता सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध नहीं प्रत्युत वह सकारणता और परिवर्तन के नियम पर प्रतिष्ठित है। सकारणता और परिवर्तन के नियम का नाम ही शून्यता है। उसके लिये कहा गया है: जिसने शून्यता को युक्ति से समझ लिया है उसके लिये सभी बातें युक्तियुक्त हैं। जिसने इसे युक्ति से नहीं समझा उसके लिये सभी बातें अयुक्त हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद अर्थात् सकारणता और परिवर्तन के नियमवाली शून्यता का जो विरोध किया करते हैं वे सभी लौकिक व्यवहारों का विरोध करते हैं। दुर्गृहीत सर्प और दुष्प्रसाधित विद्या जैसे विनाश करती है उसी तरह ठीक तरह से न जानी गई शून्यता भी मूर्ख का विनाश किया करती है—

"सर्वं च युज्यते यस्य शून्यता यस्य युज्यते।
सर्वं न युज्यते तस्य शून्यता यस्य न युज्यते॥
सर्वं संव्यवहारांश्च लौकिकान्प्रतिबाधसे।
यत्प्रतीत्यसमुत्पादशून्यतां प्रतिबाधसे॥
विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम्।
सर्पो यथा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता॥" माध्यमिक कारिका २४।१४,३६,११

सांसारिक व्यवहार के लिये शून्यता का ठीक समझना जैसा ही ज़रूरी है वैसा ही पारलौकिक व्यवहार के लिये। नागार्जुन से पहले श्रमण-ब्राह्मण मोक्ष पर बड़ा ज़ोर दे रहे थे। मोक्ष के लिये तृष्णा निरोध की उन्होंने शिक्षा दी थी। नागार्जुन ने इस शिक्षा और उससे प्रचलित प्रवृत्तियों को परखा। उन्होंने देखा मुक्ति के लिये संसार छोड़नेवाले भी तृष्णा से छूट नहीं पाते। दुनिया में तृष्णाभिभूत होकर बहुत कुछ जोड़ते बटोरते रहते हैं पर मुक्ति के प्रति जिनकी तृष्णा है उनमें जोड़ने बटोरने की कल्पना और भी बढ़ी चढ़ी है। इस बात की सचाई में हमें तब सन्देह नहीं रहता जब हम मुक्ति के विषय में यह सोचते हुए प्राचीन लोगों को देखते हैं कि: मुक्ति में आनन्द ही आनन्द है और वह आनन्द इस संसार के आनन्द से कहीं अधिक ज्यादा है। मोक्ष में परम सुख की कल्पना करनेवालों के प्रति वात्स्यायन ने कहा है: "संसार के अनित्य सुख को छोड़कर जैसे मुक्ति में नित्य सुख की कल्पना करते हो वैसे ही

देह, इन्द्रिय, बुद्धि जो इस लोक में अनित्य है उन्हें भी मुक्ति में नित्य मान लो। बस फिर तुम्हें वेदान्तियों का ऐकात्म्य सिद्ध होना खूब ठीक रहेगा। (न्यायसूत्र १।१।२२ पर) वात्स्यायन से बहुत पूर्व नागार्जुन ने कह दिया था कि जो लोग यह ख्याल करते हैं कि 'उपादान रहित होकर हम निर्वाण पा जाएगे' उन्हें सचमुच बहुत बड़े उपादान का ग्रहण लगा हुआ है—

"निर्वास्याम्यनुपादानो निर्वाणं मे भविष्यति।
इति येषा ग्रहस्तेषामुपादानमहाग्रह ॥" माध्यमिक कारिका १६।९

इस तरह नागार्जुन ने लोक से परलोक तक की सभी प्रज्ञप्तियों को बड़े ध्यान से देखा और उन्होंने उनकी व्यवहारिक सत्ता को परस्पर सापेक्ष पाया। जिसका व्यवहार होता है वह सभी सापेक्ष सत् है पर तत्त्व व्यवहार से परे है क्योंकि धर्ममात्र वस्तुत· न तो उत्पन्न होते हैं और न निरुद्ध होते हैं, उत्पाद और निरोध सब व्यवहार के लिये हैं। वस्तुत एक ही चीज़ जब परिवर्तन के प्रवाह में दूसरा रूप धारण करती है तब यदि वह रूप हमारे लिये उपयोगी होता है तब तो हम उसे कह देते हैं कि उत्पाद हुआ है यदि हमारे लिये अनुपयोगी होता है तब हम कहते हैं कि उसका नाश हो गया। उदाहरण के लिये दो बातें देखनी होंगी। भड़-भूँजा प्रतिदिन मनों अनाज भून कर चबेना तैयार करता है लोग घर का अनाज भुना कर या भड़ भूँजे से खरीद कर चबाते हैं पर कभी कोई यह ख्याल नहीं करता कि भड़भूँजे ने अनाज को रूपान्तरित कर नष्ट कर दिया है। सभी यही समझते है उसने चबेना बनाया है। पर यदि घर में खेत बोने के लिये रक्खे अनाज को कोई भून डाले तो लोग यही कह उठेंगे कि अनाज का सत्यानाश हो गया। बहुत साफ़ दोनों उदाहरणों में रूपान्तर एक जैसा होने पर भी व्यवहार में भेद है। ज़रा और गहरी निगाह डाल कर देखें तो उत्पाद और निरोध का असलियत से कोई सम्बन्ध नहीं है। परिवर्तन का प्रवाह है उसमें हम अपने मतलब के हिसाब से कहीं उत्पाद का व्यवहार करते हैं कहीं निरोध का व्यवहार करते हैं। यदि हमारा मतलब न रह जाए, हमारी तृष्णा न रह जाए तब उस तरह के व्यवहार की ज़रूरत न पड़ेगी। इसीलिये कहा गया है "जब चित्तगोचर कुछ न रहा तो कहने की बात ही न रह गई। क्योंकि धर्मता निर्वाण की तरह न तो उत्पन्न होती है और न निरुद्ध। फिर इस तरह की उत्पाद-निरोध-हीन बात में चित्त प्रवृत्त हो भी कैसे ? जब चित्त प्रवृत्ति ही नहीं तब कहने की बात कैसी"—

"निवृत्तमभिधातव्यं निवृत्ते चित्तगोचरे।
अनुत्पन्नानिरुद्धा हि निर्वाणमिव धर्मता।" माध्यमिक कारिका १८।७

शून्यता या परिवर्तन का तेज़ प्रवाह व्यवहार से परे है, वह निर्विकल्प है, विकल्प अर्थात् चित्त उसको पकड़ नहीं पाता, परिवर्तन का प्रवाह अनानार्थ है, नानार्थ अर्थात् उसमें भिन्नार्थता नहीं है पर यह तत्त्व की बात शब्द से बताई नहीं जा सकती पर बुद्धि से समझी जा सकती है। तत्त्व का वास्तविक स्वरूप यही है फिर भी यदि यह समझ में न आ सके तो प्रतीत्यसमुत्पाद के सहारे यह समझा जा सकता है कि जो वस्तु हेतु और प्रत्यय से उत्पन्न होती है वह न तो उससे सर्वथा भिन्न होती है और न अभिन्न ही। जैसे बीज से न तो अकुर अभिन्न (=बीज रूप) है और न भिन्न ही है। इसीलिये न तो कोई वस्तु शाश्वत है और न किसी का उच्छेद ही होता है। इन दोनों स्वरूपों को मिलाकर कहें तो जो तत्त्व है वह अनेकार्थ, अनानार्थ, अनुच्छेद और अशाश्वत है और यही लोकनाथ बुद्धों का शासनामृत है—

"अपरप्रत्ययं शान्त प्रपञ्चैरप्रपञ्चितम्।
निर्विकल्पमनानार्थमेतत्तत्त्वस्य लक्षणम्॥
प्रतीत्य यद्यद्भवति नहि तावत्तदेवतत्।
न चान्यदपि तत्तस्मान्नोच्छिन्नं नापि शाश्वतम्॥
अनेकार्थमनानार्थमनुच्छेदमशाश्वतम्।
एतत्तल्लोकनाथानां बुद्धाना शासनामृतम्॥" माध्यमिक कारिका १८।९-११

शून्यता के स्वरूप के द्वारा इतनी तत्त्व की बात समझ लेने पर व्यवहार की विषमताएं और विरोध सब समझ में आ जाते हैं और उनकी संगति लग जाती है। इस बात का समझना भी आसान हो जाता है कि बुद्ध का अपना अभिप्राय क्या था और उनके उपदेशों में लौकिक बातें कितनी थीं। शून्यता ही परमार्थ सत्य की चीज़ है जो कि बुद्ध का अभिप्राय है। शून्यता के सहारे हम देख चुके हैं सभी व्यवहारिक बाते परस्पर सापेक्ष हैं। साधारण लोगों के ख्याल से जो तथ्य है, व्यवहार दशा में तत्त्वज्ञ के लिये भी वही तथ्य है। साधारण लोग जब तत्त्व की ओर झुकने लगते हैं तब वे बाते जिन को तथ्य समझते थे अतथ्य जान पड़ने लगती हैं। कुछ लोग जो अधिक बुद्धिमान् होते हैं वे यह भी जानते हैं कि तत्त्वज्ञों के हिसाब से कौन वस्तु अतथ्य है और साधारण लोगों के हिसाब से कौन वस्तु तथ्य है। पर जिन्होंने बहुत काल तक तत्त्वचिन्ता की है वे जानते हैं कि न तो कुछ अतथ्य है और न तथ्य। एक उदाहरण लेकर इस बात को देखें तो बात और साफ़ हो सकेगी। आर्यदेव ने बताया है कि जो हीन लोग पाप में लगे रहते हैं महात्मा लोग उन्हें आत्मा की सद्गति और दुर्गति बता कर पाप न करने का उपदेश करते हैं, जो लोग पुण्य का अभ्यास करते हैं और यह ख्याल किया

करते हैं कि इनसे स्वग मिलेगा उन्हें उपदेश देते हुए मुनिजन अनात्मवाद का उपदेश दे स्वग आदि के राग से छुड़ाते हैं। पर जो लोग इन दोनों से अधिक समझदार होते हैं उन्हें आत्मा और अनात्मा दोनों के पचड़े से अलग रहने का उपदेश दिया जाता है—

"वारण प्रागपुण्यस्य मध्ये वारणमात्मन· ।
सर्वस्य वारण पश्चाद्यो जानीते स बुद्धिमान् ॥" चतु.शतक ८।१५

इसी बात को ख्याल में रख कर यदि बुद्ध वचनों को देखें तो जान पड़ेगा कि जो लोकायत लोग तत्त्ववादियों का मज़ाक उड़ाते कहा करते थे पुरुष या आत्मा बस उतना ही है जो इन्द्रियों से दिखाई पड़ता है। भद्रे, यही वृकपद है जिसको बहुश्रुत बातें बनाया करते हैं—

"एतावानेव पुरुष· यावदिन्द्रियगोचरः ।
भद्रे वृकपदं ह्येतद्यद्वदन्ति बहुश्रुता· ॥"

ऐसे लोगों के ख्याल से ही बुद्ध ने परलोक की चर्चा की और बताया कि प्राणी का जीवन इसी दुनिया में खतम नहीं हो जाता। पर जो लोग इस भ्रम में कि उन्हें किसी नित्य लोक की प्राप्ति होगी कुशलाभ्यास की आदत डाल चुके थे उनके भ्रम को तोड़ने के लिये बुद्ध ने अनात्मवाद का उपदेश दिया है। पर जो अधिक बुद्धमान् थे उनके लिये न आत्मा का उपदेश है न अनात्मा का—

"आत्मेत्यपि प्रज्ञपित अनात्मेत्यपि देशितम् ।
बुद्धैरात्मा न चानात्मा कश्चिदित्यपि देशितम् ॥" माध्यमिक कारिका १८।६

इस तरह ससार के व्यवहार की सभी असंगतियाँ शून्यता के सहारे सगत हो जाती हैं। बुद्ध ने जिस प्रतीत्यसमुत्पाद का उपदेश दिया उसी को शून्यता शब्द द्वारा नागार्जुन ने समझाने की कोशिश की है। इस शून्यता को समझना कुछ कठिन है। बुद्ध स्वय भी समझते थे कि यह बात लोगों को पूरे तौर पर समझा देना सम्भव नहीं है। विनयपिटक में इस बात को बहुत पौराणिक ढंग से कहा है फिर भी वह कम रोचक नहीं है· "बुद्ध के मन में ऐसा हुआ कि मैं धर्मोपदेश करूँ और लोग उसे न जाने तो वह मेरे लिये परेशानी ही परेशानी है। उस समय ब्रह्मा ने बुद्ध के मन की बात जान कर सोचा कि—अरे! लोक का सत्यानाश हो जाएगा जो भगवान् का चित्त धर्म देशना की ओर नहीं झुक रहा है। यह सोच ब्रह्मा बुद्ध के पास आए और उनसे प्रार्थना की कि भगवान् धर्म की देशना करे, सुगत, धर्म की देशना करें, धर्म न सुनने से प्राणियों की हानि हो रही है।" ब्रह्मा की बात मान कर बुद्ध ने

र्मोपदेश का निश्चय ज़रूर किया पर क्या इससे यह पता नहीं चलता कि धर्मप्रचार के रास्ते में आने वाली मुसीबतों से बुद्ध अनजान न थे और उस समय के समाज के लिये बुद्ध के विचार समय से पहले थे। नागार्जुन ने भी इसी बात को दुहराते हुए कहा है: ठीक तरह से न जानी गई शून्यता मूर्ख का उसी तरह से सत्यानाश करती है जैसे ठीक ढग से न पकड़ा हुआ साप या ठीक ढग से न सिद्ध की गई विद्या। इसीलिये बुद्ध का मन धर्मदेशना की ओर प्रवृत्त नहीं हो रहा था क्योंकि वे जानते थे कि मन्दबुद्धि लोग इस धर्म का बड़ी कठिनता से अवगाहन कर सकेंगे—

"विनाशयति दुर्दृष्टा शून्यता मन्दमेधसम्।
सर्पो यथा दुर्गृहीतो विद्या वा दुष्प्रसाधिता॥
अतश्च प्रत्युदावृत्तं चित्तं देशयितुं मुनेः।
धर्मं मत्वास्य धर्मस्य मन्दैर्दुरवगाहताम्॥" माध्यमिक कारिका २४।११,१२

शून्यवाद की दार्शनिक दृष्टि धार्मिक साधना के लिये बहुत उपयोगी है। भारतीय तत्त्वचिन्तकों का इस विषय में बहुत करके एक मत है कि मनुष्य की अपनी तृष्णा ही उसके दुःख का कारण है। तृष्णा क्यों होती है? बुद्ध के विचार से तृष्णा का कारण आत्मदृष्टि है। आत्म दृष्टि से अभिप्राय है शरीर के भीतर एक नित्य आत्मा को मानना। नित्य से अभिप्राय अपरिवर्तनशील से है। जिस चीज़ पर हमें भरोसा है कि वह नित्य रहेगी उस पर हमारा राग होना स्वाभाविक है। आत्मा ही नहीं, हमारे दार्शनिकों ने और भी कितनी ही वस्तुओं को नित्य माना है। चार्वाक बिल्कुल अध्यात्मवादी नहीं है। खाओ, पिओ, मौज उड़ाओ—बस यही उसका दर्शन है पर इससे समझ लेना कि चार्वाक दर्शन के प्रवर्तक बृहस्पति अनाचार फैलाने वाले थे, ठीक न होगा। हां, यह ज़रूर है कि वे भौतिकवादी थे और इतने भौतिकवादी कि इन्द्रियजन्य सुख ही उनके यहाँ सार है—

त्याज्यं सुखं विषयसंगमजन्म पुंसां
दुःखोपसृष्टमिति मूर्खविचारणैषा।
व्रीहीन् जिहासति सितोत्तमतण्डुलाढ्यान्
को नाम भोस्तुषकणोपहितान् हितार्थी॥

—सर्वदर्शनसंग्रह में चार्वाक दर्शन

यह केवल मूर्खों का ख्याल है कि विषय भोग से उत्पन्न सुख इसलिये त्याज्य है कि वह दुःखानुबद्ध होता है। भला हित चाहनेवाला ऐसा कौन है जो सफेद उत्तम चावल वाले धानों को इसलिये त्याग दे कि वे भूसी वाले हैं।

इतने अधिक भौतिकवादी का तत्त्ववाद नित्य दृष्टि से खाली नहीं है। पृथिवी, जल, तेज और वायु मात्र ही चार तत्त्व हैं जिनसे चार्वाक विश्व का विकास मानता है। और इन तत्त्वों के परमाणु उसके हिसाब से नित्य हैं। तीर्थंकर महावीर के अनुयायी जैन ईश्वर को नहीं मानते पर नित्य आत्मा मानते हैं। कपिल का भी यही हाल है। पुरुष और प्रकृति दोनों ही उनके यहाँ नित्य हैं। कणाद के मत से जीव, ईश्वर, पृथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणु, आकाश, काल, दिशा, मन नित्य हैं। याज्ञिक (मीमांसक) वेद और जगत् को जैसा का तैसा नित्य मानते हैं। उपनिषद् के दार्शनिक ब्रह्म या आत्मा को नित्य मानते हैं। बुद्ध से पहले भी नित्यवादी मत थे और बाद में भी नित्यवादी मत रहे। पर बुद्ध और उनके अनुयायियों ने आत्मा ही नहीं किसी भी वस्तु को नित्य नहीं माना। इस आत्मा के लिये माने गए सिद्धान्त पुनर्जन्म, कर्म-फल, स्वर्ग-नरक, मोक्ष को तो बौद्धों ने मान लिया यद्यपि उस मान्यता में उन्होंने कहीं कहीं अपनी कुछ व्याख्या ज़रूर की पर आत्मा के नित्यवाद के साथ उन्होंने कोई समझौता नहीं किया। उन्होंने उससे साफ़ ही इनकार कर दिया। बुद्ध ने नित्य या अपरिवर्तनशील आत्मवाद को क्यों इनकार किया ? सब्बासव सुत्तन्त (मज्झिमनिकाय १।१।२) में इस बात पर प्रकाश डाला गया है। कितने ही लोग अपने जीवन को ग़लत ढग से सोचते हैं। अपने वर्तमान जीवन के बारे में वे यों सोचते हैं—मैं क्या हूँ ? मैं कैसा हूँ ? यह प्राणी कहाँ से आया है ? कहाँ जानेवाला है ? अपने भूत अर्थात् इस जन्म से पूर्व के बारे में सोचते हैं—मै था या नहीं था ? क्या था ? कैसा था ? क्या हो कर हुआ था ? भविष्य के बारे में सोचते हैं— मैं होऊँगा या न होऊँगा ? क्या होऊँगा ? कैसा होऊँगा ? क्या होकर क्या होऊँगा ?

इस तरह ग़लत सोचने से उनमें छः दृष्टियों में से कोई एक दृष्टि उत्पन्न होती है—

(१) मेरे आत्मा है।

(२) मेरे भीतर आत्मा नहीं है।

(३) आत्मा को ही आत्मा समझता हूँ।

(४) आत्मा को अनात्मा समझता हूँ।

(५) अनात्मा को आत्मा समझता हूँ।

(६) आत्मा अविपरिणामधर्मा है, अनन्त वर्षों तक वैसा ही रहेगा। इस तरह सोचने से मनुष्य में **कामास्रव** उत्पन्न होता है, **भवास्रव** उत्पन्न होता है, **अविद्यास्रव** उत्पन्न होता है।

अपने आत्मा के होने और न होने की फ़िक्र करने से ही सब तरह की कामनाएँ उठ

खड़ी होती हैं। यदि आत्मा के अस्तित्व और नास्तित्व से छुट्टी ले ली जाए तो मामला ही खतम हो जाय। तृष्णा के लिये तो आलम्बन चाहिए जिसके सहारे वह टिके। जब उसका आलम्बन न रहा तब वह टिक ही कहाँ सकती है? शान्तिदेव ने कहा है—

"यदा न भावो नाभावो मतेः सन्तिष्ठते पुरः।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति॥"—बोधिचर्यावतार, ९।३५

जब बुद्धि के सामने भाव भी नहीं रहता और अभाव भी नहीं रहता तब दूसरा कोई उपाय न मिलने से, आलम्बन न रहने से, बुद्धि को शान्ति मिल जाती है।

यह बात सच्चे अनुभव के बल पर कही गई है। हमारे मनमें विक्षोभ दोनों अवस्थाओं में हुआ करते हैं। जिस चीज़ का हमें अभाव रहता है उसके लिये हमें चिन्ता रहती है, हैरानी रहती है, पेरशानी रहती है। जो हमारे पास है, जिसका हमें अभाव नहीं है, उसके बारे में भी हमे कम फ़िक्र नहीं रहती। आत्मा है और रहेगा यह सोचकर हमारे मनमें तरह तरह की चिन्ताएँ उठती हैं। आत्मा कुछ नहीं है, हम नहीं रहेंगे, इससे भी हमें शान्ति नहीं है। शान्ति तभी मिल सकती है जब हम दोनों के बारे में न सोचें। सो भाववाद, अभाववाद, शाश्वतवाद, और उच्छेदवाद से छुट्टी लेकर प्रतीत्य समुत्पाद रूपी शून्यवाद पर जब तक आकर न ठहरें तब तक उलझनों का सुलझना कठिन है।

'प्रतीत्य समुत्पाद' परिवर्तनशीलता एवं सकारणता का नियम है। जिसपर अनेक अनेक आक्षेप किए गए हैं। यहाँ एक आक्षेप की चर्चा कर लेना अरोचक न रहेगा। क्षण क्षण परिवर्तनशीलता के सिद्धान्त के अनुसार जो आत्मा कर्म करता है वह फल भोगने के समय वही नहीं रहता, तब तक बदल जाता है। एवं जिसने कर्म किया वह तो रहता नहीं और जिसने कर्म नहीं किया उसे फल मिलता है। इस आपत्ति को कहते हैं कृतहानि और अकृताभ्यागम। यह आपत्ति की गई है क्षण क्षण परिवर्तनशील आत्मा पर। अब आप ज़रा नित्य या कूटस्थ अथवा अपरिवर्तनशील आत्मा की जाँच इस तर्क से करें। इस तर्क का मर्म स्थल है—जो कर्म करता है सो फल भोगता है। पर नित्य आत्मा तो कूटस्थ है, अपरिवर्तनशील है। क्रिया तो परिवर्तनशील का ही धर्म हो सकती है। जिसमें क्रिया है उसमें परिवर्तन हुए बिना नहीं रह सकता। पर आत्मा को निष्क्रिय मानते हुए भी उसे कर्ता और भोक्ता माना जाता है। वह कैसे? आत्मा तो कर्ता नहीं है। कर्ता शरीर है। पर जो शरीर कर्म करने के समय होता है वही फल भोगने के समय नहीं होता। फलतः निष्क्रिय आत्मा जिस शरीर से कर्म का कर्ता माना जाता है उससे ही वह भोक्ता नहीं होता। फलतः यहाँ भी वही आपत्ति आती है जो कि अनात्मवाद पर की गई है। यहाँ भी कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष बना ही

रहता है। अनात्मवाद पर की गई आपत्ति को स्वीकार करते हुए शान्तिदेव ने कहा है: अनात्मवाद की दृष्टि से कर्ता ही भोक्ता नहीं होता। हाँ, फिर भी वह एक तरह से एक माना जा सकता है। प्रतिक्षण बदलते आत्मभाव की परम्परा बनी रहती है और इस परम्परा के कारण उसमें एकता का ख्याल कर लिया जाता है। किसी तरह जब वे एक हो गए फिर उनको कर्ता भोक्ता मानने में अड़चन नहीं रहती—

"हेतुमान् फलयोगीति दृश्यते नैष सम्भवः।
सन्तानस्यैक्यमाश्रित्य कर्ताभोक्तेति देशितम् ॥"—बोधिचर्यावतार, ९।७३

खैर, यह तो हुआ दार्शनिकों का तर्कवाद। जाँच करने पर यह ठीक भी हो सकता है और उसमें कुछ गलतियाँ भी दिखाई पड़ सकती हैं। पर देखना यह है कि इस नैरात्म्यवाद से हमें जीवन में क्या सहायता मिलती है। नैरात्म्यवाद का प्रयोजन आत्मवाद को निषेध करना है। पर आत्मवाद से बुद्ध या बुद्ध के अनुयायियों को द्वेष तो था नहीं जो उसका प्रत्याख्यान किया। इसलिये उस कारण को समझना चाहिए कि जिसके कारण उसका आदर नहीं किया गया। बुद्ध ने कहा है—

"पुत्तामत्थि धनमत्थि इति बालो विहञ्यति।
अत्ताहि अत्तनो नत्थि कुतो पुत्ता कुतो धनम् ॥" धम्मपद ५।३

'पुत्र मेरे हैं', 'धन मेरा है' सोच सोचकर अज्ञानी मरता पचता रहता है। अपना आत्मभाव ही जब नहीं तो कहां पुत्र और कहां धन ?

नागार्जुन ने आत्मवाद के दोषों को समझाते हुए कहा है :—

"आत्मनि सति परसञ्ज्ञा स्वपरविभागात्परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धा सर्वे दोषाः प्रजायन्ते ॥"

बोधिचर्यावतारपञ्जिका में ९।७८ पर उद्धृत

आत्मा या अपनापन होने पर ही पराये का भाव उत्पन्न होता है। फिर अपने पराए का भेद हो जाने से हम किसी को चाहते हैं, किसी से बुरा मानते हैं अर्थात् किसी से हमारा राग होता है और किसी से हमारा द्वेष होता है। इन दोनों के कारण ही सभी बुराइयां उत्पन्न होती हैं। बुद्ध ने इस आत्मवाद की दृष्टि को कामास्रव, भवास्रव, और अविद्यास्रव को उत्पन्न करनेवाली कहा है। सो, बहुत साफ़ है कि उन्होंने अनात्मवाद का प्रतिपादन आध्यात्मिक जीवन में सहायता देने के लिये किया था। अनात्मवाद के सहारे उन्होंने जीवन में उस आदर्श को प्रतिष्ठा करनी चाही जिसमें राग के कारण संकट नहीं है, द्वेष और मोह के कारण संघर्ष नहीं है।

अपनापन यदि न रहा तो स्वर्ग के प्रति लोभ नहीं हो सकता, नरक से भय नहीं रह जाता, देवताओं से सरोकार नहीं रहता और ब्रह्मा जिसे विश्व का कर्ता समझा जाता है उससे मतलब नहीं रहता। इन सबसे मतलब न होते हुए भी इनको मना करने की ज़रूरत नहीं रहती। इस अनात्मवाद या शून्यवाद का यही उपयोग है कि आप पृथिवी से लेकर ब्रह्मलोक तक माने। परम्परा से चली आई देवी देवताओं की चर्चा का रस लें पर उनके प्रति सतृष्ण न हों। आप यह समझ लें कि देवलोक के सुन्दर वर्णन आपके कौतुकी हृदयों को रससे तृप्तकर सकते हैं किन्तु स्वर्ग में होनेवाले कल्पवृक्षों से आप यहां भोजन नहीं पा सकते, वस्त्र नहीं पा सकते, व्याधियां नहीं दूर कर सकते। वे वृक्ष जो "बिना सूत के हो नाना रंगवाले उज्वल, सुनहले कामवाले, पतले घने वस्त्र देते हैं उनसे आप अपना तन नहीं ढँक सकते। और वे सुन्दरियां जिनके बारे में कहा गया है कि उन (अप्सराओं) की शोभा मानवलोक की सुन्दरियों की कान्ति को वैसा ही फीकाकर देती हैं जैसे सूर्य के उगने पर उसकी चमक दीपक की प्रभा को क्षीण कर देती है, उनसे आपको कोई भी सरोकार नहीं हो सकता—

"नाना विरागाण्यथ पाण्डराणि
सुवर्णभक्तिव्यवभासितानि।
अतान्तवान्येकघनानि यत्र
सूक्ष्माणि वासांसि फलन्ति वृक्षाः॥
दीपप्रभां हन्ति यथा च काले
सहस्ररश्मेरुदितस्य दीप्तिः।
मनुष्यलोके द्युतिमङ्गनानां
मन्तदर्धत्यप्सरसां तथा श्रीः॥" सौन्दरनन्द (स्वर्गगमन सर्ग)

शून्यवाद का स्वरूप और प्रयोजन हमने बहुत सक्षेप में यहां देखा है। अब उन युक्तियों को भी देखना ठीक होगा जिन्हें शून्यवाद प्रत्याख्यान और समर्थन करने के लिये बरता गया है। विग्रहव्यावर्तिनी के अनुसार पूर्व पक्ष जिसमें शून्यवाद पर आक्षेप है, और उत्तर पक्ष जिसमें उसका उत्तर है, को देख लेना ठीक रहेगा।

प्र०—शून्यता ठीक नहीं क्योंकि जिन शब्दों को तुम युक्ति के तौर पर बरतते हो वे स्वयं शून्य हैं उनसे कोई बात सिद्ध नहीं की जा सकती।

उ०—सभी चीज़ें जो हेतुप्रत्यय के होने पर होती हैं, शून्य हैं—स्वभाव से नहीं हैं; मेरी बात भी उसी तरह स्वभाव से न होने के कारण शून्य हुई। बस इससे प्रकट है कि शून्यता बिल्कुल ठीक है।

प्र०—शून्यता को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है।

उ०—यदि कोई प्रमाण जैसी वस्तु होती तो उससे शून्यता के सिद्ध करने की बात उठती पर प्रमाण स्वय ही अपने आपमें सिद्ध नहीं है। यदि प्रमाण को दूसरे प्रमाण से सिद्ध करो तो ऐसी अवस्था में वह प्रमाण न रहकर प्रमेय हो जाएगा। उसे प्रमेय से भी सिद्ध नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रमेय अपने आपही सिद्ध नहीं है।

अक्षपाद ने प्रमाणों पर किए हुए नागार्जुन के आक्षेपों का समाधान किया है। इस आक्षेप का समाधान करते समय उन्होंने कहा है : जैसे बाँट से जब चीज़ तौली जाती है तब वह प्रमाण होता है पर यदि बाँट को ही किसी दूसरे बाँट या उतने ही वज़न की दूसरी चीज़ के द्वारा तौला जाए तो उस समय वह प्रमाण न होकर प्रमेय होगा। सो एक ही चीज़ में प्रमाण-प्रमेय व्यवहार सिद्ध हो सकता है—"प्रमेया तुला प्रामाण्यवत्"।

अक्षपाद ने शून्यवादी सिद्धान्त के अनुसार उत्तर दिया है। अपेक्षा दृष्टि से कोई वस्तु कभी प्रमाण और कभी प्रमेय हो सकती है इस बात से नागार्जुन असहमत नहीं हैं। नागार्जुन के आक्षेप का अभिप्राय है कि स्वतःसिद्ध प्रमाण जैसी कोई वस्तु नहीं है और उसे किसी दूसरे से सिद्ध भी नहीं किया जा सकता क्योंकि जब कोई स्वतःसिद्ध वस्तु हो तभी वह सिद्ध हो सकता है पर वैसी वस्तु कोई है ही नहीं। अब रही अपेक्षा दृष्टि से प्रमाणों की सिद्धि, सो तो नागार्जुन का अपना मत है।

प्र०—लोग किसी बात को अच्छा समझते हैं किसी को बुरा। सो अच्छाई और बुराई स्वभाव से ही है, उनकी शून्यता नहीं सिद्ध की जा सकती।

उ०—शून्यता अच्छाई और बुराई का विरोध नहीं करती, प्रत्युत यदि शून्यता न हो तो अच्छाई और बुराई के भेद की तमीज़ करना कठिन हो जाए। यदि अच्छे बुरे का भेद शून्य अर्थात् प्रतीत्य समुत्पन्न या अपनी हेतुप्रत्यय सामग्री के कारण न होकर स्वभाव से हो तब तो उसमें कुछ अदला बदला हो ही नहीं सकता। ब्रह्मचर्य आदि धार्मिक अनुष्ठानों का कोई प्रयोजन नहीं रहता क्योंकि अच्छाई, बुराई कुशल, अकुशल में से न कुशल को बढ़ाया जा सकता है और न अकुशल को घटाया जा सकता है।

तर्क की यह बानगी काफ़ी अच्छी है। माध्यमिककारिका में यह बात और भी साफ़ करके कही गई है : "यदि यह सब कुछ अशून्य है—प्रतीत्य समुत्पन्न नहीं है तो उदय और व्यय (निरोध) भी नहीं है फिर भला तुम्हारे मत से चार आर्य सत्य भी कैसे हो सकते हैं? भगवान् ने दुःख को प्रतीत्यसमुत्पन्न (अनित्य) कहा है और जब सब कुछ स्वभाव से ही हो गया तब उसका उदय, निरोध, और निरोध की ओर ले जानेवाला मार्ग भी न रहा। यदि ऐसा

होने पर भी मार्ग को भावना की बात कहो तो उसे स्वभाव से न मानना ठीक न रहेगा। (माध्यमिक कारिका २४।२०-२४)। "अशून्यवाद वाद के हिसाब से—नित्यवाद के हिसाब से—जो चीज़ प्राप्त नहीं है उसको प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि अप्राप्ति स्वभाविक है नित्य है। दुःख का अन्त करना भी नित्यवाद के अनुसार सम्भव नहीं क्योंकि जिस दुःख का अन्त नहीं हुआ है वह न होना स्वाभाविक है—नित्य है। और जो, सब क्लेशों का प्रहाण नहीं हुआ, नहीं हो सकता क्योंकि वह भी स्वाभाविक है—नित्य है। इसलिये जो प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है—जो शून्यता को देखता है, वही दुःख, समुदय, निरोध, और मार्ग को देखता है"—

"असम्प्राप्तस्य च प्राप्तिर्दुःखपर्यन्तकर्म च।
सर्वक्लेशप्रहाणं च यद्यशून्यं न विद्यते ॥
यः प्रतीत्यसमुत्पादं पश्यतीदं स पश्यति।
दुःखं समुदयं चैव निरोधं मार्गमेव च ॥" माध्यमिक कारिका २४।३९,४०

बहुत साफ है कि प्रतीत्य समुत्पाद रूपी शून्यवाद बिना माने चारों आर्य सत्यों को प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। यह चारों सत्य ही बौद्धधर्म के प्राण हैं। इनकी प्रतिष्ठा के लिये सभी बौद्ध सम्प्रदाय प्रतीत्य समुत्पाद मानते हैं पर उसे मानते हुए भी वे अपने को शून्यवादी नहीं कहते। कह भी नहीं सकते, क्योंकि शून्यवाद के प्रवर्तक ने प्रतीत्य समुत्पाद के आधार पर महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला कि सभी पदार्थों की सत्ता सापेक्ष है। इसलिये वह स्वभाव से है ही नहीं। स्वभाव से सत्ता है ही नहीं यह बात प्रायः दुर्बोध सी हो जाती है और बौद्धों के दूसरे सम्प्रदायों ने भी इसे उसी रूप में समझने का प्रयत्न नहीं किया जिस रूप में कि नागार्जुन ने इसे उपस्थित किया था, औरोंकी तो बात ही क्या? शून्यवाद का सार इतना ही है कि पदार्थ प्रतीत्य समुत्पन्न होने के कारण सापेक्ष सत् हैं, निरपेक्ष सत् नहीं। निरपेक्ष सत्ता के न मानने का नाम ही शून्यवाद है।

ग—विज्ञानवाद

बुद्ध से पहले प्रायः सभी भारतीय तत्त्वचिन्तक परिवर्तन के पीछे किसी अपरिवर्तनशील सत्ता पर विश्वास करते थे। बुद्ध के अनित्यवाद से उन्हें एक झटका-सा लगा। नागार्जुन ने बुद्ध से लगभग पाँच शती बाद जब शून्यवाद की प्रतिष्ठा की तब उन्हें दूसरा झटका लगा। शून्यवाद के हिसाब से जब सब-कुछ सापेक्ष सत् हो गया, निरपेक्ष सत्ता का कहीं पता न रहा तब दूसरे लोगों ने निरपेक्ष सत्ता को प्रतिष्ठापित करने का बड़ा यत्न किया। इसके अतिरिक्त बुद्ध ने

अपने समय में ही इस बात पर बड़ा ज़ोर दिया था कि अनुश्रव (वेद) की अन्धभक्ति को न माना जाए क्योंकि अनुश्रव ठीक भी हो सकता है और ग़लत भी। पर सब लोग बुद्ध-जैसे नरम न थे। लोकायत लोग हमेशा ही फूहड़ शब्दों में श्रुति की खबर लिया करते थे। जैन भी श्रुति से परहेज़ रखना ठीक समझते थे यद्यपि श्रोत्रियों की नित्य दृष्टि के क़ायल थे। सांख्य और योग के पुजारी वेद के विरोधी न होते हुए भी श्रोत्रियों के मार्ग को "अविशुद्धक्षयातिशय-युक्त" समझते थे, भले ही नित्य दृष्टि को मानते थे। श्रोत्रियों के सामने दो बातें थीं एक तो श्रुतिप्रामाण्य स्थापित करना। दूसरे अपने दार्शनिक चिन्तन को इस रूप में उपस्थित करना कि नित्य दृष्टि की रक्षा हो सके। नागार्जुन के बाद के दार्शनिकों को इसीलिये दो बातों में व्यग्र देखा जाता है एक तो अनित्य-और अभाव-(क्षणिक और शून्य) वादों का खण्डन करना और जैसे भी हो श्रुतिप्रामाण्य स्थापित करना।

कणाद ने कार्य के लिये कारण का होना आवश्यक माना और बताया कि कारण के गुण कार्य के गुणों के आरम्भक होते हैं (वैशेषिकसूत्र १।२।१,२—२।१।२४)। कारण-कार्य के कणादसिद्धान्त में कार्य के गुण भले ही कारण से आते हों पर कार्य कारण से अभिन्न नहीं माना जाता। कपिल जहाँ कार्य को अपनी कारणावस्था में सत् मानते थे वहाँ कणाद कार्य को अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् (=प्रागभाव) मानते हैं। अभिप्राय यह है कि कणाद कार्य कारण के अभेद से अपनी नित्य दृष्टि नहीं सिद्ध करना चाहते। इस विषय में उनकी अपनी प्रक्रिया है जो पहले के दार्शनिकों के पास न थी। उन्होंने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय छः पदार्थों में सत्ता का वर्गीकरण किया। इनमें से 'सामान्य' को कणाद ने नित्य दृष्टि के सिद्ध करने का साधन बनाया। सामान्य क्या है? व्यक्तियों के परस्पर भिन्न होते हुए भी उनमें जो अभेद देखा जाता है वह सामान्य है। राम, कृष्ण, देवदत्त, यज्ञदत्त सब हैं भिन्न भिन्न पर उन्हें एक 'मनुष्य' शब्द से भी कहा जाता है। सो यह 'मनुष्यत्व', जिस के कारण भिन्न भिन्न राम, कृष्ण, देवदत्त, यज्ञदत्त व्यक्तियों को मनुष्य कहा जाता है 'सामान्य' है। वह नित्य है क्योंकि देवदत्तादि के न रहने से भी नष्ट नहीं होता, व्यापक भी है क्योंकि व्यक्ति उससे व्यतिरिक्त नहीं होता। इसी प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में 'इदं सत्' (=यह है) की प्रतीति होती है। इस सत् की प्रतीति से सत्ता की सिद्धि होती है। (वैशेषिकसूत्र १।२।८)। यह सत्ता जो सामान्य के बलपर सिद्ध हुई, बिल्कुल नये ढग से नित्यवाद की स्थापना करती है।

बादरायण ने अपनेसे पहले की दार्शनिक प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन करते हुए श्रुतियों की दार्शनिक पद्धति को एक व्यवस्थित रूप में उपस्थित किया। अपनी दार्शनिक प्रक्रिया को

परिणाम के सहारे स्थापित किया। इनके परिणामवाद में पहले के परिणामवाद से कुछ मौलिक भेद है। क्योंकि पुराने परिणामवाद में कितनी चीजें परिणाम से अछूती रह जाती थीं। कपिल जीव को, पतञ्जलि जीव और ईश्वर को, कणाद जीव और ईश्वर के अलावा मन, काल, दिशा, आकाश आदि को परिणाम से अछूता रखते थे। वादरायण ने अनेक तत्त्व न मानकर केवल एक ब्रह्म तत्त्व माना। उसे सत् भी कहा और चित् भी कहा। और इसी ब्रह्म के परिणाम से नाना रूप सृष्टि का होना उपनिषदों के आधारपर बताया। इनके हिसाब से जगत् ब्रह्म से अनन्य है।

बौद्ध दार्शनिक पाँचों स्कन्धों का परिणाम (=प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व) मानते थे। उन्हें सत् और क्षणिक समझते थे। विज्ञान स्कन्ध, जिसके समकक्ष अन्यदार्शनिकों का आत्मा था प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से परिणाम से अछूता न था। इधर वादरायण ने भी ब्रह्म, जो सत् चित् दोनों है, का परिणाम मान लिया तो बौद्ध दार्शनिकों के प्रतीत्यसमुत्पाद और वादरायण के परिणामवाद में एक प्रकार की सरूपता आ गई फिर भी भेद बना रहा। वह भेद दो प्रकार का था। प्रथम तो विज्ञान और दूसरे स्कन्धों को एकता बौद्धों ने न मानी जब कि ब्रह्म विज्ञान (=चित्) और अचित् की एकता का ही नाम है। दूसरा भेद था अनित्य दृष्टि का जब ब्रह्मवाद नित्य दृष्टि का व्यवस्थापक है। अब इस ब्रह्मवाद की विरोधी दो बातें थीं। एक तो बौद्धों की नित्य विरोधी दृष्टि दूसरी आत्मा को परिणाम से अलग रखने की दृष्टि। वादरायण ने दोनों के निराकरण का यत्न किया।

वादरायण के सामने सर्वास्तिवादियों और माध्यमिकों की नित्यविरोधी दृष्टियां थीं। उन दृष्टियों को सामने रखते हुए उन्होंने यह प्रमाणित करने पर बल लगाया कि किसी नित्य या स्थिर वस्तु के बिना परिणाम सम्भव नहीं है। कारण और कार्य का पूर्वापर भाव होता है। कारण पहले और काय पीछे होता है। कार्य की उत्पत्ति के क्षण कारण का निरोध हो जाता है। सो कार्योत्पत्ति से पूर्वक्षण में जब कारण निरुद्ध हो हो गया तो कार्य के प्रति उसका हेतु भाव नहीं रहा। यदि मान लो कि कार्योत्पत्ति के क्षण तक कारण रहता है तो एक तो कारण और कार्य का पूर्वापर भाव नहीं रहता दूसरे यह दावा कि सब कुछ क्षणिक है, खारिज हो जाता है (ब्रह्मसूत्र २।२।२०,२१)। यह तो हुई सर्वास्तिवादियों की बात! बचे माध्यमिक, पर उनकी बात बड़ी पेचीदा थी। भाव और अभाव दोनों दृष्टियों से उनका सम्बन्ध न था। उनके हिसाब से भाववाद और अभाववाद से झगड़ना सपने में देखी गई लक्ष्मी के लिये झगड़ना था। वादरायण ने उनके प्रति कहा कि सब तरह सोचने पर भी आप की बात कैसे उपपन्न होती है सो तो मेरी समझ में नहीं आया पर आँख से देखने में आप की बात में विरोध है। सत्ता को

उपलब्धि तो हो ही रही है फिर भाव और अभाव दृष्टि से सत्ता को न देखने का अर्थ सत्ता को न मानना ही है जो समझसे बाहर की बात है (ब्रह्मसूत्र २।२।२८,३२)।

वादरायण परिणामवाद मानते थे पर ठीक ठीक परिणामवाद को सबसे पहले नागार्जुन ने ही समझा था। परिणामवाद का नित्यदृष्टि से कोई मेल नहीं है क्योंकि नित्यता का अर्थ ही कूटस्थता या परिणाम-का-न-होना है। बाद में शकर को यह बात समझ में आई। उन्होंने देखा कि परिणामवाद मानने से नित्यता की सिद्धि करना असम्भव है अत उन्होंने परिणामवाद को विवर्तवाद में परिणत किया। परिणाम को मिथ्या मानना विवर्तवाद है। जब परिणाम ही मिथ्या हो गया तो 'नित्यता' को किसीसे डर न रहा। सत्ता की अनित्यदृष्टि के साथ भी परिणामवाद की सगति नहीं बैठती क्योंकि अनित्य का अर्थ है सत्ता का विनाश या उच्छेद मानना। जब सत्ता उच्छिन्न हो गई तो परिणाम अब हो तो किसका और कैसे? एव परिणाम न तो शाश्वतवाद से और न उच्छेदवाद से सम्बन्ध रखता है, प्रत्युत वह अशाश्वत-अनुच्छेदवाद है, भावाभावविनिर्मुक्त शून्यवाद है।

कपिल प्रकृति का परिणाम मानते थे। उनके मत से प्रकृति चेतन न थी। बौद्ध सर्वास्तिवादी दार्शनिक भी परमाणुओं का परिणाम मानते थे, ये परमाणु भी चेतन न थे। कणाद ने सर्वास्तिवादियों की तरह परमाणुओं को चेतन नहीं माना किन्तु कपिल की प्रकृति की भाँति उन्हें नित्य ही माना जबकि बौद्धों ने उन्हें क्षणिक माना था। वादरायण का ब्रह्म कोरा सत् न था पर चित् भी था जबकि परमाणु और प्रकृति कोरे सत् थे अत वादरायण को चेतन सत्ता का परिणाम सिद्ध करने के लिये जो लोग कोरी सत्ता का परिणाम मानते थे उनके निराकरण की अपेक्षा मालूम हुई। कणाद परमाणुओं के सयोग और वियोग से सर्ग एव लय का होना मानते थे। सयोग और वियोग दोनों ही कर्मसापेक्ष हैं। क्रिया या व्यापार के बिना परमाणुओं का सयोग-वियोग सम्भव नहीं है। और कर्म के लिये कोई दृष्ट कारण है नहीं अतः अदृष्ट को कारण मानना होगा। पर अदृष्ट के अचेतन होने के कारण उसमें सामर्थ्य नहीं है कि परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न कर सके (ब्रह्मसूत्र २।२।१२)। कपिल की प्रकृति भी अचेतन है पर उसके प्रति वादरायण अपना यह तर्क उपस्थित न कर सकते थे क्योंकि कपिल के मत से प्रकृति सर्वबीज अर्थात् सब की उपादान कारण और प्रवृत्ति-स्वभाववाली है। अत. वादरायण ने यह तर्क उपस्थित किया कि प्रवृत्ति अचेतन का धर्म नहीं है। प्रकृति अचेतन है अतः उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती (ब्रह्मसूत्र २।२।२)। बिना प्रवृत्ति माने परिणाम नहीं हो सकता।

वसुबन्धु (चौथीशती) से पूर्ववर्ती दर्शन इन्ही तर्क-वितर्कों में उलझा हुआ था। लोकायत सत् से ही नश्वर चित् की उत्पत्ति मानते थे। कपिल ने सत और चित को अलग

अलग माना जिसमें सत् को परिणामी और चित् को अपरिणामी कहा। बौद्ध दर्शनिकों ने सत् और चित् के रूप में द्रव्यों का विभाग नहीं किया पर दूसरे दार्शनिकों के यहा जो चित् कहा जाता है लगभग वही बौद्धों का विज्ञान-स्कन्ध है (दे० ऊपर पृ० ६)। दूसरे लोग जिसे सत् कहते हैं वही उनके यहां बाकी चार स्कन्ध हैं। पाँचो स्कन्ध बौद्धों के यहा परिणामी हैं। बादरायण ने सत् और चित् दोनों को एक ब्रह्म शब्द से कहा। पिछले दार्शनिकों की भाँति परिणाम इन्होंने भी माना।

वसुबन्धु ने इन दार्शनिक गतिविधियों को देखा और एक नई बात कही। इन्होंने कहा कि केवल विज्ञान (दूसरे दार्शनिकों के हिसाब से चित्, आत्मा, ब्रह्म) से भी काम चल सकता है। इन्होंने विश्व को विज्ञान का परिणाम बताया तथा विज्ञान से अतिरिक्त और किसी दूसरी चीज़ के मानने से इनकार कर दिया। वसुबन्धु के विज्ञानवाद को यहां उनकी विंशिका और त्रिंशिका कारिकाओं के आधार पर देख लेना है।

आलय, मन और प्रवृत्ति भेद से विज्ञान तीन प्रकार का है। कपिल की प्रकृति जैसे सर्व-बीज है—सम्पूर्ण जगत् की उपादान है, बादरायण का ब्रह्म जैसे सर्व-बीज है, वैसे ही वसुबन्धु का यह विज्ञान भी सर्व-बीज है। सर्व-बीज होने के कारण ही इस मूल विज्ञान को आलय विज्ञान कहते हैं। सभी धर्मों का यही कारण रूप से आलय (=स्थान या आश्रय) होने के कारण मूल विज्ञान 'आलय' विज्ञान कहलाता है। आलय विज्ञान के सन्तान से प्रवृत हुआ विज्ञानान्तर जो सत्काय दृष्टि (=नित्यदृष्टि, आत्मदृष्टि) मान, मोह, और राग नामक क्लेशों से युक्त होने के कारण बन्ध का हेतु है 'मन' कहलाता है। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म (=सभी मानसिक भावनाएं) इन छ विषयों की जो प्रतीति है वह प्रवृत्ति विज्ञान है। जैसे जलमें तरंगे (पवनादिजनितक्षोभवश) उत्पन्न होती रहती हैं वैसे ही यह विज्ञान भी आलयविज्ञान में हेतुप्रत्ययवश सब के सब एक साथ या पृथक् पृथक् उत्पन्न होते रहते हैं (त्रिंशिका २,५,८,१३)।

इन विज्ञानों में प्रवृत्तिविज्ञान के लिये बाह्यार्थसत्ता माननी पड़ती है किन्तु वसुबन्धु का ख़्याल है कि इनके लिये भी बाह्य सत्ता की अपेक्षा नहीं। रूप आदि वस्तुतः हैं, इसलिये उनकी उनको प्रतीति होती है, यह बात मिथ्या है। जैसे तिमिर रोगी को केश, जाल आदि जो सचमुच उसके सामने नहीं हैं, प्रतीत होते हैं वैसे ही अर्थसत्ता न होते हुए भी रूप आदि की प्रतीति हुआ करती है। अतएव विज्ञान के अतिरिक्त और कोई बाह्य सत्ता नहीं हैं (विंशिका १)।

पर विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य सत्ता न मानने से कितनी ही आपत्तिया उठ खड़ी होती हैं। विज्ञान के अतिरिक्त यदि बाह्य अर्थ सत्ता सचमुच न होती तो देश, काल, सन्तान और कृत्य क्रिया के नियम न होते, पर ये चारों नियम देखे जाते हैं—

(१) देशनियम—जिस स्थान में रूप आदि पदार्थ होते हैं वहीं रूप आदि विज्ञान भी देखे जाते हैं, जहां नहीं होते वहा रूप आदि विज्ञान की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। सो यह देश या स्थान का नियम तभी बनता है जब रूप आदि बाह्य पदार्थ हों। यदि बाह्य पदार्थ न माने जाएँ तो सर्वत्र ही रूप आदि की प्रतीति होनी चाहिए। पर होती नहीं। अत: देश का नियम होने से बाह्यार्थसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(२) कालनियम—जिस समय-विशेष में रूप आदि पदार्थ कहीं पर होते हैं, उसी समय विशेष में रूप आदि विज्ञान उत्पन्न होते हैं। सर्वदा सब समय में उत्पन्न नहीं होते। अत जान पड़ता है कि रूप आदि बाह्यार्थसत्ता के बिना रूप आदि विज्ञान उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार विज्ञानोत्पत्ति के साथ कालनियम होने से बाह्यार्थसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(३) सन्ताननियम—जहां जिस समय में रूप आदि बाह्यार्थ होते हैं, वहां सभी अविकलेन्द्रियों को उनकी पतीति होती है। ऐसा नहीं होता किसीको हो और किसीको न हो जैसा कि तिमिररोगी को तो केश, जाल आदि दिखाई देते हैं पर दूसरों को नहीं। यदि बिना रूप आदि बाह्य अर्थ के ही विज्ञान की उत्पत्ति होती तो वह तैमिरिक की असदर्थ प्रतीति की भांति कुछ को होती और कुछ को न होती। पर रूप आदि बाह्य अर्थ जहां जब होते हैं उनको सब को ही प्रतीति होती है। अतः विज्ञानोत्पत्ति में सब के साथ सन्ताननियम (=प्रतीति का सिलसिला) होने से बाह्यार्थ सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(४) कृत्यक्रियानियम—रूप आदि बाह्य अर्थों से ही शारीरिक कृत्य हो सकते हैं। स्वप्न में देखे गए अन्न जल से भूखप्यास नहीं मिट सकती। अतः कोरे विज्ञानमात्र से दुनिया का काम नहीं चल सकता। दुनिया की कृत्यक्रिया के लिये रूप आदि अर्थ अपेक्षित हैं। इस प्रकार भी बाह्यार्थसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

एव इन चार नियमों की पड़ताल करने से जान पड़ता है कि विज्ञान से व्यतिरिक्त भी बाह्यार्थसत्ता है (विंशिका २)।

वसुबन्धु ने इन आक्षेपों का समाधान करते हुए कहा है कि बाह्य-पदार्थ के अभाव में भी देश, काल, सन्तान और कृत्यक्रिया के नियम देखे जाते हैं। उदाहरण के लिये स्वप्न को लीजिए। स्वप्न में बाह्य अर्थ के बिना ही किसी स्थान विशेष में, (न कि सर्वत्र) बागबगीचे, नदी-तालाब, सुन्दरियां दिखाई पड़ जाती हैं; हमेशा नहीं। वे स्वप्न दृश्य द्वयसमापत्ति रूप कृत्यक्रिया करने में भी समर्थ होते हैं। रही यह बात कि बाह्य पदार्थ की प्रतीति सभी अविकलेन्द्रियों को होती है पर बाह्यार्थ के बिना तिमिर रोगी को जो पदार्थ की प्रतीति होती है वह सब को नहीं; अतः बाह्यार्थ सिद्ध न हुआ। सो इस युक्ति में भी जान नहीं है। प्रेतों

को मल, मूत्र, पूय आदि से परिपूर्ण नदी दिखाई पड़ती है, यद्यपि वह होती नहीं। नारकी जीवों को इसी प्रकार भयकर दृश्य दिखाई पड़ते हैं। यमकिंकरों के दर्शन भी उन्हें होते हैं और उनसे वे दण्ड पाते हैं, यद्यपि वे सब वस्तुत. नहीं होते (विंशका ६,४)। इन आगममूलक दृष्टान्तों को यदि छोड़ दे तो स्वप्न का उदाहरण ही काम दे सकता है क्योंकि बाह्य पदार्थ के बिना ही सब को सपने दिखाई पड़ते हैं। स्वप्नकाल में बाह्यपदार्थ के बिना ही सब को उनकी प्रतीति होती है, ऐसा नहीं कि किसी को हो और किसी को न हो। एव बाह्यार्थ सत्ता के बिना ही देश, काल, सन्तान, और कृत्य क्रिया के नियम बन जाते हैं। सो इन चारों नियमों के लिये बाह्यार्थ सत्ता का मानना ज़रूरी न रहा।

सर्वास्तिवादी बाह्यार्थसत्ता पर बहुत ज़ोर देते थे, कणाद और अक्षपाद भी उसके हामी थे। तीनों ही परमाणुओं का मानते थे। बाह्य पदार्थ परमाणुओं के सयोग से बनते हैं। परमाणु रूपी अवयवों से बना पदार्थ परमाणुओं का समूहमात्र ही नहीं है प्रत्युत उन अवयवों से बिलक्षण वह एक 'स्वतत्र' पदार्थ है, जो '**अवयवी**' कहलाता है। परमाणुओं के सयोग तथा अवयवी को कणाद और अक्षपाद दोनों मानते है। परमाणुओं के सयोग से एक विलक्षण अवयवी बन जाता है। इस बात को सर्वास्तिवादी नहीं मानते। उनके मत से परमाणुपुञ्ज ही पदार्थ है। कुछ भी हो इन सब के मत से परमाणु निरवयव हैं। वसुबन्धु ने परमाणुओं के बल पर बाह्यार्थ सत्ता सिद्ध करनेवाले इन दार्शनिकों की समीक्षा करते कहा है: सयोग सावयव का देखा जाता है। परमाणुओं को एक और निरवयव मानना और दूसरी और उनका सयोग मानना कैसे सम्भव है (विंशिका १३ का उत्तरार्द्ध)। परमाणु सावयव नहीं हो सकते और निरवयव का संयोग नहीं हो सकता। और बिना सयोग हुए अवयवों से अवयवी नहीं बन सकता। सो कणाद और अक्षपाद की बाह्यार्थसत्ता जो अवयवी की सिद्धि ही पर निभर थी परास्त हो गई।

अक्षपाद ने अवयवी के सिद्ध करने में श्रम ज़रूर किया पर वह श्रम बेकार गया है। क्योंकि भारत में दार्शनिक भाव का प्रयोजन केवल मनुष्य जीवन को सहायता देना है और इस प्रकार का प्रयत्न करना है कि मनुष्य अधिक से अधिक अपने को दोष-रहित बना सके। अक्षपाद को पता था कि बाह्यार्थ (रूप आदि) का सकल्प करने से राग, द्वेष, और मोह रूपी दोष उत्पन्न हुआ करते हैं (न्यायसूत्र ४।२।२)। और यह दोष उत्पन्न होते हैं अवयवी के अभिमान से (न्यायसूत्र ४।२।३)। अवयवी को एक तथ्य मानना और उसके अभिमान से बचने के लिये फिर अवयवों की भावना पर पहुँचना अक्षपाद का पूरा द्रविड़ प्राणायाम है। खेर साधना के क्षेत्र में उनका अवयवी बहुत ही बेकार-सी चीज़ है। अवयवी का ख़्याल करने से किस तरह राग

उत्पन्न होता है ? वाचस्पति ने समझाया है कि स्त्री को निमित्त करके अवयवी को धारणावश अनुव्यञ्जनों (=आकार प्रकारों) का चिन्तन करते समय जिस तरह राग उत्पन्न होता है स्त्री का यों ध्यान करने से कि पिघले हुए सोने के समान निर्मल द्युतिवाली, अनङ्गलीला की एकमात्र रंगभूमि मातंग के गंडस्थल के समान विभ्रमवाले स्तनों के भार से अलसाई, सिद्ध सञ्जीवनी जैसी प्रिया यदि आलिङ्गन करने को न मिले तो भला कामके बाणों की व्यथा को कैसे सहा जा सकता है—

"द्रवत्कनकनिर्मलद्युतिरनङ्गलीलैकभू
मेहेभकटविभ्रमस्तनभरालसाङ्गी यदि।
प्रिया न परिरभ्यते तुलितसिद्धसञ्जीवनी
सहेमहि कुतोऽन्यथा विषमबाणबाणव्यथाम् ॥"

—इस प्रकार के राग से बचने के लिये साधक शरीर को केश, लोम, मांस, शोणित, अस्थि, स्नायु, शिरा, कफ, पित, मल, मूत्र रूपी अवयवों का समूह समझकर भावना करते हैं।

सो, धार्मिक साधना के क्षेत्र में अवयविवाद से काम नहीं चलता।

वसुबन्धु ने बाह्यार्थसत्ता के मिथ्या सिद्ध करने में जो परिश्रम किया, उससे परवर्ती दार्शनिकों को बड़ा बल मिला। गौड़पाद ने विज्ञानवाद की सिद्धि के लिये किए गए बाह्यसत्ता के निराकरण को अद्वैतवाद का बहुत उपकारक समझकर मान लिया (गौड़पादकारिका ४।२५)। विज्ञानवादियों और अद्वैतवादियों में है भी बहुत समता। नागार्जुन जहाँ सब कुछ को, यहां तक कि विज्ञानस्कन्ध (तैर्थिकसम्मत आत्मा) को भी सापेक्ष सत् मानते थे वहाँ बौद्ध और ब्राह्मण विज्ञानाद्वैतवादियों ने विज्ञान को निरपेक्ष सत् कहना शुरू किया। एक ने उसे 'विज्ञान' शब्द से कहा, दूसरे ने उसे 'ब्रह्म' शब्द से। दोनों ने तदतिरिक्त बाह्यार्थसत्ता को मिथ्या माना। दोनों ने उसे अनुच्छिन्न या नाश न होनेवाला कहा, पर एक अन्तर बना रह गया। विज्ञान था परिवर्तनशील क्योंकि उसे 'प्रतीत्य समुत्पन्न' माना जाता है। पर ब्रह्म था कूटस्थ, यद्यपि वह भी "जन्माद्यस्य यतः" (ब्रह्मसूत्र १।१।२) "आत्मकृतेः परिणामात् (ब्रह्मसूत्र १।४।२३) में बादरायण द्वारा परिणामशील कहा जा चुका था। सो इस ब्रह्म के परिणाम की नये ढंग से व्याख्या करने की जरूरत पड़ी। नागार्जुन ने परिणामवाद (=प्रतीत्यसमुत्पाद) के आधार पर सब-कुछ को अशाश्वत और अनुच्छिन्न कहा था। अनुच्छेद अंश से तो अद्वैतवादी सहमत थे पर अशाश्वत अंश उनकी नित्यदृष्टि का काँटा था। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद या परिणामवाद जो कारण-कार्य का नियम था और जिसको सभी ठीक एवं वास्तविक समझते थे, मिथ्या करार दे दिया गया। और वह विचारा अब संवृतिसत्य-मात्र रह गया। परिणाम या प्रतीत्यसमुत्पाद

को बौद्ध विज्ञानवादियों ने परमार्थ सत्य ही माना, फलतः उन्हें विज्ञान को क्षणिक या परिवर्तनशील मानना पड़ा। ब्रह्मवादियों ने उसे मिथ्या माना सो उनका "ब्रह्म" परिणाम से अछूता कूटस्थ बना रहा। अस्तु, इस दृष्टि भेद के कारण विज्ञान और ब्रह्म जो एक होने जा रहे थे अलग अलग बने रहे पर अलग अलग होते हुए भी अद्वैतवाद पर जो बौद्धदर्शन को छाप पड़ी वह मिटाई न जा सकती थी।

विज्ञानवादियों ने विज्ञान के अतिरिक्त बाह्यसत्ता का निषेध तो कर दिया पर व्यवहार बिना बाह्यसत्ता के चल नहीं सकता था। सो उन्होंने विज्ञान के अतिरिक्त यावन्मात्र व्यवहार को औपचारिक माना। अन्धे को यदि कोई 'सुलोचन' कहे, मूर्ख को 'बृहस्पति' कहे, वाहीक को बैल (गौर्वाहीकः) कहे, या गवार को 'गधा' कहे तो इन प्रयोगों को औपचारिक कहना होगा। क्योंकि अन्धे आदि में सुलोचनत्व आदि धर्म नहीं है और जो जहाँ नहीं है, उसका उसमें प्रयोग करना उपचार कहलाता है (त्रिंशिका १ पर स्थिरमति)। आत्मा (=अपनापन, मैं और मेरा पन) तथा धर्म (=अपने से पृथक् सब पदार्थ) दोनों की सत्ता औपचारिक है क्योंकि विज्ञान के परिणाम के अतिरिक्त दोनों हैं ही नहीं (त्रिंशिका १)। विज्ञान के अतिरिक्त और "सब कुछ" मिथ्या है और उसी मिथ्या की व्यवहार सिद्धि के लिये यह अन्य मिथ्यान्तर है "उपचार," जिसे आगे चलकर शंकर ने 'अध्यास' 'अविद्या' और 'माया' कहा। विज्ञानैकत्ववाद सिद्ध करने के लिये जिस जगत् को वसुबन्धु ने मिथ्या कहा, उसने ही वसुबन्धु को अविद्या (=उपचार) में फेंककर अपनी सिद्धि करवा ही ली। वसुबन्धु के बाद के प्रायः सभी दार्शनिकों ने जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हुए, रज्जु में सर्प की तरह उसे भ्रम समझते हुए, अविद्या में पड़े रह गए। किसी ने भी उससे निकलकर ठोस धरती को सच्चा और सारवान् समझने का जतन न किया।

घ—बौद्ध दर्शन का तार्किक आधार

बुद्ध के समय ब्राह्मण लोग परम्परागत श्रुति (=अनुश्रव) या वेद पर बड़ी श्रद्धा रखते थे और उनका ख्याल था कि श्रुति ही सच्ची है और सब झूठा। बुद्ध ही सम्भवतः पहले तत्त्वचिन्तक हैं जिन्होंने श्रुति को ओर विवेचना की दृष्टि से देखा। उन्होंने उसकी पूर्णतया सचाई पर पहले पहल सन्देह प्रकट किया और कहा कि वह कितने ही अंशों में सच भी हो सकती है और कितने ही अंशों में झूठ भी। मज्झिमनिकाय के चंकिसुत्त में इसी विषय पर ही कापथिक माणवक से संवाद हुआ है। उसकी संक्षिप्त कथा यों है—

"एक समय भगवान् महाभिक्षुसघ के साथ कोसल में चारिका करते जहा ओपसाद नामक का ब्राह्मण ग्राम था वहां पहुंचे। वहां भगवान् ओपसाद के उत्तर देववन नामक सालवन में विहार कर रहे थे।

उस समय चकि ब्राह्मग ओपसाद का स्वामी हो वास करता था।

ओपसाद वासी ब्राह्मणों ने सुना—शाक्य कुल से प्रव्रजित शाक्यपुत्र श्रमण गोतम... ओपसाद में पहुँचे हैं इस प्रकार के अर्हतों का दर्शन अच्छा होता है।

तब ओपसाद वासो ब्राह्मण गृहपति ओपसाद से निकल कर झुण्ड के झुण्ड उत्तर मुँह की ओर जहां देववन सालवन था जाने लगे। उस समय चकि ब्राह्मण दिन के शयन के लिये प्रासाद के ऊपर गया हुआ था। चकि ब्राह्मण ने देखा कि ओपसाद वासी ब्राह्मण गृहपति... जा रहे हैं। देखकर क्षत्ता (=महामात्य) को संबोधित किया—

'क्या है हे क्षत्ता! ओपसादवासी ब्राह्मण गृहपति उत्तर मुँह को ओर जहाँ देववन है जा रहे हैं।'

'हे चंकि!. .श्रमण गोतम .सालवन में विहार कर रहे हैं। ..(ये लोग उन्हीं) भगवान् गोतम के दर्शन के लिये जा रहे हैं।'

'तो क्षत्ता, जहा ओपसादक ब्राह्मण गृहपति है, वहां जाओ। जा कर ओपसादक ब्राह्मण गृहपतियों से ऐसा कहो—चंकि ब्राह्मण ऐसा कह रहा है—'थोड़ी देर आप सब ठहरें, चंकि ब्राह्मण भी श्रमण गोतम के दर्शनार्थ जाएगा।'

चंकि ब्राह्मण से 'अच्छा भो!' कह, वह क्षत्ता जहाँ ओपसाद ब्राह्मण थे, गया। जाकर बोला—

'चंकि ब्राह्मण ऐसा कह रहा है—थोड़ो देर आप सब ठहरें। चंकि ब्राह्मण भी श्रमण गोतम के दर्शनार्थ जाएगा।'

चंकि ब्राह्मण महान् ब्राह्मणों के गण के साथ जहाँ भगवान् थे वहा गया। जाकर भगवान् के साथ सम्मोदन कर एक ओर बैठ गया। उस समय भगवान् बुद्ध वृद्ध ब्राह्मणों के साथ कुछ बात करते हुए बैठे थे।

उस समय कापथिक नामक माणवक, मुण्डितशिर, जन्म से सोलह वर्ष का,. .तीनों वेदों का पारंगत परिषद् में बैठा था। वह बूढ़े बूढ़े ब्राह्मणों के भगवान् के साथ बात चीत करते समय, बीच बीच में बोल उठता था। तब भगवान् ने कापथिक माणवक को मना किया।

'आयुष्मान् भारद्वाज! बूढ़े बूढ़े ब्राह्मणों के बात करने में बात मत डालो। आयुष्मान् भारद्वाज कथा समाप्त होने दो।

ऐसा कहने पर च कि ब्राह्मण ने भगवान् से कहा

'आप गोतम, कापथिक माणवक को मत रोकें। कापथिक माणवक कुलपुत्र है, बहुश्रुत है, सुवक्ता है, पण्डित है। कापथिक माणवक आप गोतम के साथ इस बात में वाद कर सकता है।'

तब भगवान को हुआ—अवश्य कापथिक माणवक की कथा त्रिवेद-प्रवचन सम्बन्धी होगी। जिससे कि ब्राह्मण इसे आगे कर रहे हैं। उस समय कापथिक माणवक को (विचार) हुआ—'जब श्रमण गोतम मेरी आँख की ओर आँख लाएगा, प्रश्न पूछूगा।' तब भगवान् ने (अपने) चित्त से कापथिक माणवक के चित्त वितर्क को जान कर जिधर कापथिक माणवक था उधर आँख फेरी। तब कापथिक माणवक को हुआ—'श्रमण गोतम मुझे देख रहा है, क्यों न श्रमण गोतम से प्रश्न पूछू?' तब कापथिक माणवक ने भगवान से कहा—

'भो गोतम! जो यह ब्राह्मणों का पुराना मन्त्रपद (=वेद) परम्परा से पिटक सम्प्रदाय से है। उसमें ब्राह्मण पूर्ण रूप से श्रद्धा (=निष्ठा) रखते हैं—यही सत्य है और सब झूठा।' इस विषय में आप गोतम क्या कहते हैं?

'भारद्वाज! यह धर्म इसी जन्म में दो प्रकार के विपाक (=फल) देने वाले हैं। कौन से? श्रद्धा, अनुश्रव (=वेद) भारद्वाज! यह धर्म इसी जन्म में दो प्रकार के विपाक देने वाले हैं। भारद्वाज! सुन्दर तौर पर श्रद्धा किया गया भी रिक्त=तुच्छ और मृषा हो सकता है। सुश्रद्धा न किया भी यथार्थ=तथ्य=अनन्यथा हो सकता है।.......भारद्वाज सत्यानुरक्षक विज्ञ पुरुष को एकांश से (सोलहो आना) निष्ठा करना योग्य नहीं है कि—'यही सत्य है और बाक़ी मिथ्या है।'

'हे गोतम! सत्यानुरक्षा कैसे होती है? सत्य का अनुरक्षण कैसे किया जाता है? हम आप गोतम से सत्यानुरक्षण पूछते हैं।'

'भारद्वाज! यदि पुरुष को श्रद्धा होती है 'यह मेरी श्रद्धा है', कहते सत्य की अनुरक्षा करता है। किन्तु यहा एकांश से निष्ठा नहीं करता 'यही सत्य है और सब झूठा।' भारद्वाज! यदि पुरुष को रुचि होती है—'यह मेरी रुचि है' कहते सत्य की अनुरक्षा करता है। किन्तु यहाँ एकांश से निष्ठा नहीं करता—'यही सत्य है और सब झूठा। भारद्वाज! यदि पुरुष को अनुश्रव होता है। 'यह मेरा अनुश्रव है।' कहते सत्य की अनुरक्षा करता है किन्तु यहाँ एकांश से निष्ठा नहीं करता—'यही सत्य है और सब झूठा।' .... भारद्वाज! इतने से भारद्वाज! सत्यानुरक्षण होता है। इतने से सत्य की अनुरक्षा की जाती है। इतने से हम सत्य का अनुरक्षण प्रज्ञापित करते हैं; किन्तु इतने से सत्य का अनबोध नहीं होता।'

'भो गोतम ! इतने से सत्यानुरक्षण होता है, इतने से सत्य की अनुरक्षा की जाती है, इतने से सत्य का रक्षण हम भी देखते हैं। हे गोतम ! सत्य का बोध कितने से होता है ? हे गोतम ! हम इसे आपसे पूछते हैं।'

'भारद्वाज ! भिक्षु किसी ग्राम या निगम को आश्रय कर विहरता है। कोई गृहपति या गृहपतिपुत्र जाकर लोभ, द्वेष, मोह इन तीन धर्मों के विषय में उसकी परीक्षा करता है जब उसे लोभनीय, द्वेषनीय और मोहनीय धर्मों से विशुद्ध पाता है तब उसमें श्रद्धा स्थापित करता है। श्रद्धावान हो पास आता है, पास जा के पर्युपासन करता है। पर्युपासना करके कान लगा के धर्म सुनता है। सुनकर धर्म को धारण करता है। धारण किए हुए धर्मों के अर्थ की परीक्षा करता है। अर्थ की परीक्षा करके धर्म ध्यान के लायक होते हैं। धर्म के ध्यानयोग्य होने से स्मृति, रुचि उत्पन्न होती है। रुचिवाला उत्साह करता है . ... .. पराक्रम करता है। **पराक्रमी ही इसी काया में हो परम सत्य का साक्षात्कार (=दर्शन) करता है, प्रज्ञा से उसे बेध कर देखता है।** इतने से भारद्वाज ! सत्य बोध होता है। .. ....किन्तु इतने से ही सत्यानुप्राप्ति नहीं होती।'

'हे गोतम ! इतने से सत्यानुबोध होता है।... . इतने से हम भी सत्यानुबोध देखते है। परन्तु हे गोतम ! सत्यानुप्राप्ति कितने से होती है ? हम आप गोतम से सत्यानुप्राप्ति पूछते हैं।'

'भारद्वाज ! उन्हीं धर्मों के सेवन, भावना करने, बढ़ाने से सत्य प्राप्ति होती है।'

'इतने से हे गोतम ! सत्य प्राप्ति होती है। . हम भी इतने से सत्यप्राप्ति देखते हैं।'

इस सवाद से इतनी बाते बहुत स्पष्ट हैं—

(१) ब्राह्मण श्रुति को सत्य मानते थे।

(२) ब्राह्मण श्रुतिव्यतिरिक्त सब आगमों को झूठा समझते थे।

(३) बुद्ध के ख्याल से श्रुतिया (श्रुतिया ही नहीं सभी आगम) सोलहो आने सच नहीं।

(४) धर्मोपदेष्टा को लोभ, द्वेष, और मोह से रहित होना चाहिए।

(५) तत्त्वदर्शन का साधन ध्यान है।

ध्यान और समाधि उस युग की विशेष वस्तु है। साधारण रूप से इन्द्रियां जिस बात को नहीं बतला सकतीं, जो बाते इन्द्रियों से परे हैं उनकी सिद्धि के लिये समाधि पर ज़ोर देना बहुत ज़रूरी था। यदि इतना भी बुद्ध न करते तो परम्परागत विश्वासों का, जिनका दृष्ट जगत्

से सम्बन्ध न होकर, अदृष्ट जगत् से ही सम्बन्ध है, समर्थन करना सम्भव न था। चित्त में कौतुक पैदा करनेवाली इस ठोस धरती से परे की बातें, जो पहले श्रुतियों के आधार पर टिकी थीं अब योगियों की समाधि के सहारे टिक गई। यहा एक बात का ख़याल आए बिना नहीं रहता। यदि अदृष्ट का भार मनुष्य के सिर पर रखना ही था और वह वेदों के सहारे रक्खा हुआ था ही तो फिर क्यों उनको सोलहों आने न मानकर ध्यान पर ज़ोर देने की ज़रूरत प्राचीन श्रमणों ने समझी। मेरा ख्याल है : श्रमण लोग वैदिक परम्परा को सब बातों को नहीं मानते थे। और उनसे इनकार कर नई बातों का वैदिक सम्प्रदाय में प्रवेश ब्राह्मणों की रक्षणमूलक प्रवृत्ति के कारण सम्भव न था। फलतः श्रमणों ने उस परम्परा से अपनेको छुड़ा लेना ज़रूरी समझा। पर उस परम्परा से अपनेको छुड़ा कर भी एकबार वेदों को अपने दृष्टिकोण से मानना चाहा। बुद्ध ने सोलहों आने वेद को सच न कहा पर जितने अंश में उसे सच कहा उतने अंश से उनकी सहमति है। किन अंशों से बुद्ध सहमत थे और किन अंशो से नहीं? दो तीन बातें मुख्य हैं—

(१) हिंसा (याज्ञिक)

(२) वर्णभेद (जातिमूलक)

(३) आत्मवाद (उपनिषद् के ऋषियों का)

यह तीन बातें वेदों के आधार पर ब्राह्मण लोग मानते थे। श्रमणों में बुद्ध इन्हें नहीं मानते थे। कितने ही श्रमणों ने आत्मवाद किसी न किसी रूप में मान लिया पर और दोनों बातों को कोई भी श्रमण नहीं मानता था। यह बाते वेदों में थीं फलत बाद में बौद्ध श्रमणों ने पौराणिक (माइथोलोजिकल) ढग से कहना शुरू किया : "ऋषियों ने दिव्य चक्षु से देखकर भगवान् काश्यप सम्यक् सम्बुद्ध के वचन के साथ मिलाकर मन्त्रों को परहिंसाशून्य ग्रथित किया था। उसमें दूसरे ब्राह्मणों ने प्राणिहिंसा आदि डालकर तीन वेद बना बुद्ध वचन से विरुद्ध कर दिया (मज्झिमनिकाय पृ० ३९६ अट्ठकथा)।" ब्राह्मण और बौद्ध परम्परा को एक करने का यह प्रयत्न था पर हो न पाया। बुद्ध के बाद ज्यों ज्यों समय बीतता गया ब्राह्मण बौद्ध-श्रमणों के प्रति असहिष्णु होते गए। छठी शती के कुमारिल ने बुद्ध के उपदेशों को कुत्ते की खाल में रक्खे दूध की तरह अनुपादेय बताया! अद्वैतवाद के प्रचारक शकर ने उन्हें दुनिया का दुश्मन कहा। अस्तु। जो भी हो सच बात तो यह है कि ससार बदलता है उसके साथ धर्म कर्म सभी बदल जाते हैं। एक युग था जब यज्ञ में पशुओं का होम करने से लोग स्वर्ग को अपने निकट समझते थे पर बाद में ब्राह्मणों में ही कपिल-जैसों ने उसे 'अविशुद्धक्षयातिशय-युक्त' कहा। आज उस तरह के यज्ञों का स्वप्न देखना

भी सम्भव नहीं रहा। धर्म की अन्य बातों में भी इस तरह परिवर्तन हुए। समय बीतता गया लोगों में नये विचारों को स्थान मिलता गया।

इस तरह धार्मिक विचारों तथा तत्त्व-चिन्तन का आधार बुद्ध-युग में ब्राह्मणों के लिये केवल श्रुति थी। बुद्ध-युग में श्रमणों ने श्रुति को पूर्ण प्रमाण न मानकर लोभ, द्वेष, मोह से रहित महात्माओं को अपना आदर्श माना और उनके हिसाब से ध्यान को तत्त्व-दर्शन का साधन समझा। व्यवहारिक जगत् के लिये वे प्रत्यक्ष पर तथा पारलौकिक जगत् के लिए वे समाधि पर, समाधि-प्राप्त योगियों के वचनों पर, भरोसा करने लगे तथा योगियों को उसी तरह सच माना जाने लगा जैसे ब्राह्मण वेद को मानते थे। हर सम्प्रदाय ने अपने प्रवर्तक को निर्भ्रान्त मानकर औरको भ्रान्त माना। और अब तक इसी तरह की बातों पर ज़ोर दिया जा रहा है।

योगि-प्रत्यक्ष या योगियों की साक्षात् की गई बातों पर दार्शनिक मनन और चिन्तन की परम्परा इस तरह प्रवृत्त हुई और उसका समझना समझाना जनसाधारण के लिये उतने ही अश में सम्भव रहा है जितने अश में उनकी इन्द्रियों और मन ने लौकिक आधार पर समझने में सहायता दी।

ङ—अव्याकृत

लौकिक प्रत्यक्ष तथा योगि-प्रत्यक्ष के सहारे बुद्ध और उनके शिष्यों ने धर्म का उपदेश किया और नये दार्शनिक विचारों का विकास किया। पर सम्पूण बौद्ध विचार-धारा के भीतर कितनी ही बातों की व्याख्या नहीं की गई है। मज्झिमनिकाय के चूलमॉलुक्य सुत्त में उन्हें यों गिना है—

क—लोकविषयक प्रश्न	(१) क्या लोक शाश्वत है ?
	(२) क्या लोक अशाश्वत है ?
	(३) क्या लोक अन्तवान् है ?
	(४) क्या लोक अनन्त है ?
ख—जीवन और शरीर की एकता के विषय में प्रश्न	(५) क्या जीव और शरीर एक हैं ?
	(६) क्या जीव दूसरा और शरीर दूसरा है ?
ग—निर्वाण के बाद की अवस्था के विषय में प्रश्न	(७) क्या मरने के बाद तथागत होते हैं ?
	(८) क्या मरने के बाद तथागत नहीं होते हैं ?

(९) क्या मरने के बाद तथागत होते भी हैं, नहीं भी होते हैं ?

(१०) क्या मरने के बाद तथागत न होते हैं, न नहीं होते हैं ?

मांलुक्य पुत्र ने भगवान् से यह दस बातें पूछीं और उनसे कहा "यदि भगवान् उन्हें जानते हैं .. ..तो बतलाएं · नहीं जानते हों · ···तो साफ़ कह दें—मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मालूम ।'

बुद्ध ने इसके उत्तर में कहा—

'यह आदि ब्रह्मचर्य के लिये उपयोगी नहीं, न यह निर्वेद=वैराग्य . . .. निर्वाण के लिए हैं ; इसलिये मैंने उन्हें अव्याकृत किया है, बिना व्याख्या किए ही छोड़ दिया है ।'

बौद्धों की धार्मिक साधना का इन प्रश्नों से सम्बन्ध नही है । ससार में दुःख है और दु·ख तृष्णा के कारण है । बस, तृष्णा को दूर करने के लिये ही बुद्ध का मार्ग है । मानवीय दुःख का कारण इस ठोस धरती पर ही है । यदि मनुष्यों का दुःख उनकी पुरबली करनी के कारण भी कुछ है तो कहना होगा कि वह बहुत थोड़ा ही है: "अप्पं कम्मविपाकज बहुतर अवसेस ।" ससार का दु ख इस ससार में है और उस दु ख को दूर करने के लिये बोधिसत्त्वों की चर्या है । क्योंकि बोधिसत्त्वों का विश्वास है कि वे प्राणियों को उनके कर्मजनित दुःखों से छुड़ा सकेंगे—उनके दुःखों को स्वय भोगकर उन्हें दु खमुक्त कर सकेंगे । बोधिसत्त्वों के व्रत के व्रती का संकल्प है कि संसार का दु ख सब वही झेल डाले और बोधिसत्त्वों के पुण्य से जगत् सुखी हो—

"यत्किञ्चिज्जगतो दुःख तत्सर्व मयि पच्यताम् ।
बोधिसत्त्वशुभैः सर्वैर्जगत्सुखितमस्तु च ॥"

४—उपसंहार

(१)

महायान साधना तथा उसके दार्शनिक विचारों की ऊपर बहुत ही संक्षेप से चर्चा हुई है। बुद्ध के परिनिर्वाण बीतते बीतते बौद्ध श्रमणों ने साधना का जो पथ ग्रहण किया था उसका एक मात्र प्रतिनिधि महायान है। साधना की दूसरी बातें भी रहीं होंगी। यद्यपि यह कहना बहुत कठिन है कि वे बातें कौन कौन सी थीं पर इतना तो बड़े विश्वास के साथ कहा जा सकता है महायान साधना ध्यान और समाधि पर पूर्ववर्ती युग की भाँति ज़ोर देते हुए मन्त्र-तन्त्र की ओर झुकने लगी थी। महायान सूत्रों के भीतर पाए जाने वाले धारणीमन्त्रों से यह बात साफ़ प्रकट होती है।

ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों और भी कितनी ही बातें महायान साधना के भीतर घुस आईं। बोधिचर्या जिसका मूल ध्येय प्राणिहित साधन करना था तथा जिस साधना का फल बुद्धत्व समझा जाता था, वह थोड़ी देर की साधना न थी। अर्हत्त्व या अपनी मुक्ति की चाह से की जाने वाली साधना तथा बोधिचर्या में बड़ा अन्तर था। उस अन्तर को असग ने यों बताया है—

आशयस्योपदेशस्य प्रयोगस्य विरोधतः।

उपस्तम्भस्य कालस्य यत् हीन हीनमेव तत्॥ सूत्रालंकार १।१।

अर्हत्यान या श्रावकयान में अपनी मुक्ति पाना मात्र ही आशय है और उपदेश तथा प्रयोग भी उसीके लिये होता है। थोड़े से पुण्य बल के उपस्तम्भ (सहारे) से ही वहां काम चल जाता है।' काल भी थोड़ा ही लगता है। पर महायान में सभी बातें इससे उलटा हैं। सर्वप्राणिहित करना वहां आशय है। प्रयोग और उपदेश भी उसीके निमित्त होता है। अपरिमित पुण्य के उपस्तम्भ से ही वहाँ काम चल सकता है। और काल भी एक दो का नहीं अनेकों जीवनों का लग जाने से ही उस साधना में पारमिता प्राप्त होती है। यों अर्हत् होने की साधना बोधिचर्या वाली बोधिसत्त्व साधना से हीन है। जब इस हीन साधना में लोगों का विशेष झुकाव रहा होगा तब महायान साधना के उच्च आदर्श ने लोगों में निश्चय ही नए प्राणों का सञ्चार किया होगा। पर उस उच्च आदर्श के पालन करने की जटिलताओं और चिरकाल

सापेक्षता का ख्याल रख कर बाद में सरल करने की ओर झुकाव हुआ होगा। साधना को सरल सुगम बनाने की इस प्रवृति का उल्लेख गुह्य समाज में यों है· "गगानदी बालुका के समान अनन्त कल्पों तक परिश्रम करते हुए बोधिसत्त्व जिस बोधि को नहीं पाते, उसे गुह्य साधना में रत बोधिसत्त्व इसी जन्म में पाकर बुद्ध हो जाता है (गुह्यसमाजतन्त्र पृ० १४४)।"

महायान में मन्त्र तन्त्र तथा दूसरी गुह्य साधनाओं का प्रवेश छठी शती में हो चुका था। उस समय आन्ध्रदेश के धान्यकटक का श्री पवत इन सब साधनाओं का प्रधान केन्द्र था। धीरे धीरे यह सब साधनाएँ भारत भर में फैल गई पर वे गुप्त रूप से ही होती थीं। ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों वे बहुत कुछ गुप्त-प्रकट रूप में जगह जगह फैल गई। इस परम्परा में ८०० से १२०० ई० के बोच चौरासी सिद्ध हुए। इन्होंने अपनी साधना को भाषा में ग्रथित कर गाया। इस तरह महायान के बल पर स्थित तन्त्र-मन्त्र तथा योग की साधना करने वाले सन्तोंने पहले पहल भाषा में साहित्य का श्री गणेश किया। कबीर आदि निर्गुनिया सन्त इसी परम्परा से बधे हुए है।

महायान के विश्वासों और विचारों में कितनी बातें ब्राह्मणों की पौराणिक परम्परा से समता रखती हैं और समता भी यदि बहुत ध्यान से देखें तो तिरोहित हो जाती है। पीछे बुद्ध के धर्मकाय, जिसे मैंने अपनी तरफ से निर्गुणकाय कहा है तथा संभोग और निर्माणकाय, जिन्हे सगुण काय कह दिया है दोनों ही अवतारी ब्रह्म के निर्गुण और सगुण (=अवतार) काय नहीं हैं, यह हमने पीछे देखा है। हिन्दी में सन्तों की वाणी की आलोचना से दो बातें बहुत साफ़ हैं। कबीर आदि सन्तों के राम तथा तुलसीदास आदि सन्तों के राम एक ही नहीं हैं। सन्तों की वस्तुत. हिन्दी में जो दो निर्गुनियां और सगुनियां धाराए हैं उनकी परम्परा को खोजने पर सगुनियां सन्तों का तो पुराणों से बहुत मेल मिल जाता है पर निर्गुनियां सन्तों का पुराणों से कोई मेल नहीं हैं और न उनका मेल उपनिषद् या वेदान्त के साथ ही बैठना है।

निर्गुनिया मत के कबीर राम को पुराणों वाला राम नहीं मानते, उनके राम दशरथ सुत नहीं हैं (कबीर पृष्ठ ११७)। पर उनके राम हैं क्या ? वे सर्वथा निर्गुनी वेदान्त के ब्रह्म नहीं हैं। भला निर्गुनी ब्रह्म माता के समान वत्सल हो ही कैसे सकता है जिसे निर्गुन मत के अनन्य उपासक याद करते हैं (हिन्दी साहित्य की भूमिका पृष्ठ ८५) ? निर्गुनिया मत के राम को यदि तथागत के कार्यों के रूप से मिलाएँ तो बात कुछ अधिक समझ में आ जाती है। हृदय के भीतर छिपे राम वस्तुतः धनुषबाणधारी और रावण संहारी राम नहीं है बल्कि वे तथागत हैं जिनके बारे में कहा गया है कि उनके तीन काय हैं, वे घट घट में हैं 'तद्गर्भासर्वदेहिनः' (महायान सूत्रालंकार IX. ३७)। सगुनिया मत के राम उतने भक्त वत्सल नहीं हो

सकते कि अपराधी को बिल्कुल दण्ड न दें, कम से उनके चरित्र से यह बात सिद्ध नहीं हो सकती मुँह से भले ही उनका बखान किया जाए—

'मैं जानहुँ निजनाथ सुभाऊ। अपराधिहुँ पर कोप न काऊ'

पर निर्गुनियों के राम माता के समान वत्सल हैं। उनके लिये जो प्राणि अपराधी भी है वह सिर्फ़ उन नटखटी बालकों के तुल्य है जो माँ का झोंटा नोचते हैं और वे भगवान् ठीक माँ के समान चुपचाप सह लेते हैं।

श्रमणों ने ही जातिवाद का अत्यन्त प्राचीन काल में विरोध किया था। वह परम्परा इन निर्गुनिया सन्तों को मिली। ब्राह्मणों को जातिवाद का बड़ा अभिमान था और इन सन्तों ने उनकी श्रेष्ठता नहीं मानी। यह बात भी उन्हें पौराणिक परम्परा से सर्वथा अलग करती है। सगुनिया मत के सन्त, जिनमें तुलसीदास प्रतिनिधिभूत हैं, ब्राह्मण-श्रेष्ठता सिद्ध करने में प्रयत्न शील दिखाई पड़ते हैं—

"सापत ताड़त परुस कहंता। विप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता।
पूजिअ विप्र सील गुन हीना। सूद्र न गुन गन ग्यान प्रबीना।"

निर्गुनिया सन्त तथा सन्तों की वह परम्परा जिसमें बुद्ध प्रमुख सन्त हुए, उन्होंने कभी भी इस तरह के गीत नहीं गाए। वे तो यही कहते रहे—

"विज्जाचरणसम्पन्नो सो सेट्ठो देव मानुसे।"

जो विद्या और आचरण में श्रेष्ठ है वही देवताओं और मनुष्यों में श्रेष्ठ है।

निर्गुनिया सन्त पांडे की पोथियों पर (=वेद आदि) भरोसा नहीं रखते। बुद्ध प्रमुख सन्तों की परम्परा में भी वेदों का मान नहीं है। इसके उलटे सगुनिया मत के सन्त बात बात में वेद की दुहाई दिये बिना अपना काम नहीं चला सकते, भले ही वेदों के बारे में वे जानते चाहे कुछ भी नहीं। तुलसीदास तो वेदों की इतनी ज्यादा दुहाई देते हैं, वेदों से जान छुड़ाना भी मुश्किल हो जाता है। और तो और यदि भोजन पकाने का ज़िक्र आया तो भी कह दिया—

"उपरोहित जेवनार बनाई। छ रस चारि विधि जसि श्रुति गाई।"

बाह्याचार के आडम्बर को बुद्ध प्रमुख सन्तों की परम्परा में बिल्कुल मान नहीं है। बुद्ध ने कहा था: नंगे घूमने, जटा बढ़ाने, कीचड़ लपेटने, उपासे रहने, कड़ी धरती पर सोने, धूल लपेटने और उकड़ूँ बैठने से डावांडोल (=संदिग्ध) विचारवाले मनुष्य की शुद्धि नहीं होती। सज धज कर भी जो शान्त दान्त नियम से ब्रह्मचारी है, सभी प्राणियों के प्रति जिसने दण्ड का त्याग किया है वही ब्राह्मण है, वही श्रमण है, वही भिक्षु है—

न नग्गचरिया न जटा न पङ्का
नानासका थण्डिलसायिका वा ।
रजोवजल्लं उक्कुटिकप्पधानं
सोधेन्ति मच्चं अवितिण्णकङ्खं ॥
अलंकतो चेपि समं चरेय्य
सन्तो दन्तो नियतो ब्रह्मचारी ।
सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं
सो ब्राह्मणो सो समणो स भिक्खू ॥ धम्मपद १०।१३,१४

बुद्ध के बाद साधुसन्त और तत्त्वचिन्तकों की एक लम्बी परम्परा रही है जिन्होंने बाह्याचार का पूरे तौर पर विरोध किया है। यह विरोध कहीं कहीं बड़ी तीव्र भाषा में हुआ है। धर्मकीर्ति ने कहा है—

"वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः
स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः ।
संतापारम्भः पापहानाय चेति
ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्चलिंगानि जाड्ये ॥ प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति १।३४२

वेद को प्रमाण मानना, दुनिया को किसी की बनाई कहना, नहाने में धर्म ख्याल करना, जात-पांत का घमंड करना, पाप दूर करने के लिये शरीर को तपाना यह पांच मतिमारे लोगों की बेवकूफ़ी के नमूने हैं।

सरहपाद ने इसी तरह बाह्याडम्बर पर कटाक्ष करते कहा है : "ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख पैदा हुए थे, जब हुए थे तब हुए थे। इस समय तो वे भी वैसे ही पैदा होते हैं जैसे दूसरे लोग। तो फिर ब्राह्मणत्व कहां रहा ? यदि कहो कि संस्कार से ब्राह्मणत्व होता है तो चंडाल को भी संस्कार देकर क्यों नहीं ब्राह्मण हो जाने देते ?" इतना ही नहीं नग्नता की निन्दा करते और भी कहा है : "यदि नग्न दिगम्बर को मुक्ति मिलती हो तो स्यार कुत्तों की तो मुक्ति पहले होनी चाहिए। यदि लोमोत्पाटन से मुक्ति होती हो तो ऐसे बहुतों की मुक्ति होनी चाहिए जिन्हें लोम हैं ही नहीं। यदि पिच्छ ग्रहण करने से मुक्ति होती हो तो मयूर इसका प्रथम अधिकारी है। यदि उञ्छ-भोजन से मुक्ति होती हो तो हाथी घोड़ों को मुक्ति पहले होनी चाहिए (कबीर पृ० १३३)।" बाह्याचार की विडम्बना करने की यही परम्परा निर्गुनिया सन्तों के साथ जुड़ी है, जो बाह्याडम्बर देखते ही व्याकुल हो बोल उठते हैं—

पाहन पूजे हरि मिले
तो मैं पुजौं पहार।
तातैं या चाकी भली
पोस खाय संसार।
काकर पाथर जोरि कै
मसजिद लई बनाय।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे
क्या बहरा हुआ खुदाय॥

निर्गुनिया सन्तों की वाणी को यों सरसरी तौर पर देखते जान पड़ता है कि वे न तो वेद-पुराणादि सम्मत राम के उपासक हैं, न वर्णश्रेष्ठता के पक्षपाती हैं, न वे बाह्याचार को पसन्द करते है। इसलिये उन्हें वेद और पुराण की परम्परा के साथ जोड़ा नहीं जा सकता। उनका बहुत मेल उन श्रमणों के साथ ही बैठता है जिनकी परम्परा बहुत पुरानी है और जिस परम्परा में बुद्ध प्रमुख सन्त हुए। राम आदि पौराणिक परम्परा के नामों के बल पर निर्गुनियाँ सन्तों को वेद और पुराण का अनुयायी नहीं बताया जा सकता, जबकि उनके राम आदि सर्वथा वेद और पुराण सम्मत नहीं है। इन निर्गुनियां सन्तों का प्रभाव सगुनियाँ सन्तों पर बहुत पड़ा है। वर्णश्रेष्ठता के पक्षपाती होने पर भी इन्होंने धार्मिक-साधना का द्वारा सबके लिये खुला रखने की कोशिश की है। वैदिक ओम् की जगह राम की प्रतिष्ठा करने में इन लोगों ने जो बड़ा बल लगाया, वह मतलब से खाली नहीं है। शूद्र वेद का उच्चारण करने के योग्य नहीं माना जाता। पर वह पुराण-इतिहास की कथाएँ सुन सकता है। वस्तुत: पुराण और इतिहास में अनेक धार्मिक एवं शिक्षाप्रद उपाख्यानों को भरकर जो उनका स्वरूप बिगाड़ा गया वह किसी गाढ़े समय के कारण ही हुआ है और बुद्ध प्रमुख सन्तों का वेदादि का पक्षपाती न होना ही वह गाढ़ा समय है। ऐसा करने से अवरवर्ण के लोग ब्राह्मणों के नेतृत्व में जीवित धर्म से विरक्त न हो सके। सगुनियां मत के सन्त राम को सब नामों पर तरजीह देते हैं वह अकारण नहीं है। तुलसीदास कहते हैं—

"बन्दउँ राम नाम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥
बिधि हरिहरमय वेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो॥
महामन्त्र जोइ जपत महेसू। कासीं मुकुति हेतु उपदेसू॥
महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ॥
जान आदि कबि नाम प्रतापू। भयउ सुद्ध करि उलटा जापू॥

सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपि जेईं सिव संग भवानी ॥
हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तियभूषन ती को ॥
नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को ॥"

राम नाम को मनुष्यमात्र के लिये ग्राह्य बताने का ही यह प्रयत्न है। क्योंकि इससे वेदाभिमानियों को बहुत विरोध न हो सकता था और अवरवर्णी लोग उसे सहज ही अपना सकते थे। राम नाम की महत्ता इतने भर से ही नहीं, उसे राम के व्यक्तित्व से भी बढ़कर बताया गया है—

"राम भगति हित नर तनु धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी ॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होंहि मुदमंगल बासा ॥
राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥
रिषि हित राम सुकेतु सुता की। सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी ॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नामु जिमि रबि निसि नासा ॥
भंजेउ राम आप भव चापू। भवभय भंजन नाम प्रतापू ॥
दण्डक बनु प्रभु कीन्ह सुहावन। जनमन अमित नाम किए पावन ॥
निसिचर निकर दले रघुनन्दन। नामु सकल कलि कलुष निकन्दन ॥

सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेद बिदित गुनगाथ ॥

राम भालु कपि कटकु बटोरा। सेतु हेतु श्रमु कीन्ह न थोरा ॥
नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माँही ॥
राम सकुल रन रावन मारा। सीय सहित निजपुर पगु धारा ॥
राजा रामु अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बर बानी ॥
सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती ॥
फिरत सनेहँ मगन सुख अपनें। नाम प्रसाद सोच नहिं सपनें ॥

... ...

अपतु अजामिलु गजु गनिकाऊ। भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ ॥
कहौं कहां लगि नाम बड़ाई। राम न सकहिं नाम गुन गाई ॥"

निर्गुनियों के राम और उनका नाम उन विरोधों से भरा नहीं है जिन विरोधों से कि सगुनियों का। फलतः सगुनियों के लिये नाम को परम रूप में प्रतिष्ठित करना बहुत जरूरी

हुआ। सगुनियों के राम का यह रूप निर्गुनियों से मेल नहीं खाता और इसलिये वे कह उठते हैं—

दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम कर मरम है आना।

इस मर्म का बहुत कुछ उद्घाटन महायान परम्परा से ही सम्भव है।

(२)

भारतीय धर्मसाधना में महायान की साधना का अपना स्थान है और अद्वितीय है, उसका जोड़ा दूसरा नहीं। उसकी कुछ बाते सन्तों के बचनों द्वारा परम्परया ज़रूर हम तक पहुँची हैं पर बहुत सी बातें बिल्कुल भूली जा चुकी हैं। धर्मसाधना की सभी भारतीय परम्पराओं में महायान की साधना ही है ऐसा जिसने अपनी मुक्ति से इनकार किया है। बोधिसत्त्व का यह उद्गार कि 'अकेले मेरे तर जाने से क्या होगा ?' बार बार याद रखने की चीज़ है। जब सब दुनिया ही दुःख में है तब अपनी मुक्ति और अपने सुख का ख़्याल रखना बड़ी ओछी बात है—बड़ी छोटी बात है। इस छोटी बात से बच निकलने के साथ सर्वप्राणिहित के महान् आदर्श पर चलने के कारण ही वस्तुतः वह महायान है। अष्टसाहस्रिका में इसीलिये कहा है : "महायान क्या है कैसे उसपर चला जाता है। महायान अप्रमेयता का अधिवचन है....... पारमिताओं द्वारा उसपर चला जाता है आकाश के समान अत्यन्त महान् होने के कारण वह महायान कहलाता है। जैसे आकाश में अप्रमेय प्राणियों को अवकाश रहता है वैसे ही महायान में अप्रमेय प्राणियों के लिये अवकाश है (अष्टसाहस्रिका, पृष्ठ २३-२४)।"

महायान साधना ही प्राणियों के रूप में उस भगवान् को देखती है जो अत्यन्त वत्सल है, जो अपने आपको प्राणियों के हित के लिये सौंप देना चाहता है, प्राणिहित को छोड़कर जिसका अपनापन और कुछ है ही नहीं। उन प्राणियों की सेवा को ही साधक भगवान् की सेवा समझता है। भगवान् की आराधना के लिये वह सर्वात्मना लोकसेवक होने का व्रत लेता है। लोग चाहे उसके माथे पर पैर रक्खें या मारें वह निष्प्रतिक्रिय रहता है क्योंकि भगवान् को प्रसन्न करना ही साधक का ध्येय है और वह समझता है कि उन कृपालु भगवान् ने इस जगत् को आत्मसात् कर लिया है, प्राणियों के रूप में भगवान् ही तो दिखाई पड़ रहे हैं, फिर भला उनके प्रति साधक की अनादर बुद्धि कैसे हो सकती है। इस लोकसेवा को ही वह तथागत की आराधना जानता है, इस लोक सेवा को ही वह स्वार्थसाधना समझता है, इस लोकसेवा को ही वह लोकदुःखों को दूर करनेवाला समझता है, इसलिये वह इस व्रत को ग्रहण करता है—

"आराधनायाद्य तथागतानां
सर्वात्मना दास्यमुपैमि लोके।
कुर्वन्तु मे मूर्ध्निपदं जनौघा
विघ्नतु वा तुष्यतु लोकनाथ॰ ॥
आत्मीकृतं सर्वमिदं जगत्तैः
कृपात्मभिर्नैव हि संशयोऽस्ति।
दृश्यन्त एते ननु सत्त्वरूपा-
स्तएव नाथा. किमनादरेण ॥
तथागताराधनमेतदेव
स्वार्थस्य ससाधनमेतदेव।
लोकस्य दुःखापहमेतदेव
तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव ॥" बोधिचर्यावतार, ६।१२५-१२७

इस तरह की लोकसेवा का व्रत लेकर बोधिमार्ग का साधक सब तरह से पूरी सहिष्णुता का परिचय देता है, विशेषकर उन अवसरों पर जब धार्मिकता के परम अभिमानी लोग भी असहिष्णु हो जाया करते हैं। यह अवसर अपने मतवाद, गुरु, या अपने उपास्य देव की निन्दा के कारण ही घटित होते हैं। इस अवसर पर धार्मिक लोग भी क्षमा का पाठ भूल जाया करते हैं। ऐसे ही अवसर की असहिष्णुता के भावावेश में एक सन्त ने यहाँ तक कह डाला कि हरिनिन्दा सुनने पर यदि ताक़त हो तो निन्दक की जीभ काट लेनी चाहिए "काटिय जीभ जो ताहि बसाई" पर महायान का साधक इस प्रकार के अवसरों पर और भी सहिष्णु हो जाता है। यह देखकर कि लोग भगवान् की प्रतिमा और स्तूपों का नाश कर रहे हैं, सद्धर्म की निन्दा कर रहे हैं, वह ख़्याल करता है कि मुझे इन बातों से व्यथा नहीं होनी चाहिए क्योंकि लोगों के ऐसा करने से भी बुद्धों और बोधिसत्त्वों को व्यथा नहीं होती—

"प्रतिमास्तूपसद्धर्मनाशकाक्रोशकेषु च।
न युज्यते मम क्रोधो बुद्धादीनां नहि व्यथा।" बोधिचर्यावतार ६।६४

बुद्ध ने अपने जीवन में सहिष्णुता के साथ बरतने का उपदेश दिया है। एक घटना यों है—

"एक समय भगवान् पाँच सौ भिक्षुओं के बड़े संघ के साथ राजगृह और नालन्दा के बीच लम्बे रास्ते पर जा रहे थे।

सुप्रिय परिव्राजक भी अपने शिष्य ब्रह्मदत्त माणवक के साथ जा रहा था। उस समय

सुप्रिय अनेक प्रकार से बुद्ध, धर्म और संघ की निन्दा कर रहा था। किन्तु सुप्रिय का शिष्य ब्रह्मदत्त अनेक प्रकार से बुद्ध, धर्म और सघ की प्रशसा कर रहा था। इस प्रकार वे आचार्य और शिष्य दोनों परस्पर अत्यन्त विरुद्ध पक्ष का प्रतिपादन करते भगवान् और भिक्षु सघ के पीछे पीछे जा रहे थे।

तब भगवान् भिक्षुसघ के साथ रात भर के लिये अम्बलट्ठिका के राजकीय भवन में टिक गए।

सुप्रिय भी अपने शिष्य के साथ...टिक गया। वहां भी सुप्रिय अनेक प्रकार से बुद्ध, धर्म और संघ की निन्दा कर रहा था और ब्रह्मदत्त...प्रशसा। इस प्रकार वे आचार्य और शिष्य परस्पर विरोधी पक्ष का प्रतिपादन कर रहे थे।

रात ढल जाने के बाद पौ फटने के समय उठकर बैठक में इकट्ठे हो बैठे बहुत-से भिक्षुओं में ऐसी बात चली...सुप्रिय अनेक प्रकार से बुद्ध, धर्म और सघ की निन्दा कर रहा है; ब्रह्मदत्त प्रशसा...।

तब भगवान् उन भिक्षुओं के वार्तालाप को जान बैठक में गए, और बिछे हुए आसन पर बैठ गए।

बैठकर भगवान् ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया 'भिक्षुओ! अभी क्या बात चल रही थी; किस बात में लगे थे?'

इतना कहने पर उन भिक्षुओं ने भगवान् से कहा 'भन्ते!...सुप्रिय निन्दा कर रहा है ब्रह्मदत्त प्रशंसा ..भन्ते, हम लोगों की यही बात थी कि भगवान् पधारे।'

भगवान् ने कहा "भिक्षुओ! यदि कोई मेरी निन्दा करे, या धर्म की निन्दा करे, या संघ की निन्दा करे, तो तुम लोगों को न वैर न असन्तोष और न चित्त में कोप करना चाहिए। भिक्षुओ! यदि कोई मेरी, धर्म की या सघ की निन्दा करे और तुम कुपित या खिन्न हो जाओगे, तो इसमें तुम्हारी ही हानि है।"

इस तरह परम सहिष्णु रहना ही बोधिमार्ग के साधक की सम्पत्ति है।

बोधिमार्ग का साधक जिस आध्यात्मिक भाव से जीवन को सोचता है वह और भी अपूर्व है। जगत् उसके लिये निःसार है, मायामय है। जगत् को मायामय ख्याल करते हुए भी वह यह नहीं भूलता कि वह प्रतीत्यसमुत्पन्न है—प्रत्येक वस्तु सकारणता और परिवर्तन के नियम से बँधी है। इसीलिये वह सर्वदा उद्योगी रह प्राणिमात्र के दुःख दूर करने में लगा रहता है। वह जानता है दु.ख सकारण है और उसके दूर करने का उपाय भी है। प्राणिहित के लिये अदम्य उत्साह भरकर वह प्रयत्न करता है। महाकरुणा और महामैत्री ही उसकी आध्यात्मिक

सम्पत्ति है। उसके उपर किसी ईश्वर, किसी ब्रह्मा, किसी मार या किसी अमनुष्य की दासता नहीं लदी है पर वह प्राणिमात्र का दास है। मनुष्य स्वय ही अपना प्रभु है अपना दुःख भी वह स्वय ही दूर कर सकता है, दुःख दूर करने के लिये वह किसी ईश्वर या मार की शरण नहीं जा सकता, दुःख दूर करने के लिये पर्वत, वन, आराम, वृक्ष, चैत्य की शरण नहीं जा सकता, बहुत से लोग भले ही भय से घबराकर उनकी शरण जाएँ पर बोधिमार्ग का पथिक जानता है, इनकी शरण जाने से क्षेम नहीं है, इनकी शरण उत्तम शरण नहीं है, इनकी शरण जाने से सब दुःख दूर नहीं होता—

बहु वे सरण यन्ति पब्बतानि वनानि च।
आरामरुक्खचेत्यानि मनुस्सा भयतज्जिता॥
नेत खो सरणं खेम नेत सरणमुत्तम।
नेत सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति॥ धम्मपद १४।१०,११

शून्यवाद का तत्त्वज्ञान ही उसका सहारा है क्योंकि बिना इसके उन सब वादों से छुटकारा नहीं मिल सकता जिनको अपने मन से उत्पन्न कर मनुष्य खुद उनके चक्कर में इतना अधिक फँस गया है कि उससे निकलना ही सम्भव नहीं रहा है। उसकी दशा एक मूढ़ आदमी की दशा है जिसकी उपमा ठीक उस चित्रकार के समान है जो किसी यक्ष का भयकर रूप चित्रित कर बाद में स्वय ही भय-भीत हो उठता है—

"यथा चित्रकरो रूपं यक्षस्यात भयकरम्।
समालिख्य स्वय भीत ससारेऽप्यबुधास्तथा॥" महायान विंशक

शून्यवाद के सहारे सब प्रकार के वादों को छिन्न भिन्न कर जगत् में सकारणता और परिवर्तन के नियम के सहारे वह उसे बदलने का प्रयत्न करता है। प्राणियों को दुःखित देखकर उन्हें सुखी करने के साधन प्रस्तुत करता है। प्राणिहित के लिये अपार करुणा और अपार त्यागचित्त से वह जीवन बिताता है। ईश्वर-ब्रह्मा-मार आदि बन्धनों से रहित आज के ईश्वरवादियों की दृष्टि में नास्तिक महायान की अद्वितीय प्राणिहित साधना का अध्यात्मवाद बहुत स्पृहणीय है। शून्यता का तत्त्ववाद बहुत ही समादरणीय है। उसका धर्मवाद बार बार प्रशंसनीय है जो निरन्तर बुद्ध के इस वचन को नहीं भूलता कि धर्म नौका के समान तरने के लिये है ढोने के लिये नहीं। इसलिये उस नौका रूपी धर्म को भी तरने पर छोड़ देना है, अधर्म तो पहले ही छूट चुका है—

'कोलोपमं धर्मपर्यायमाजानद्भिर्धर्मा एव प्राहातव्याः प्रागेवाधर्माः।' वज्रच्छेदिका

अनुक्रमणिका

अकृताभ्यागम १११
अक्षोभ्य (बुद्ध) ८१, ८२
अचला (विहारभूमि) ४९
अचित्त ७१
अदृष्ट ११८
अदोष (चैतसिक ३३) २४
अद्भुत धर्म ।॥≠
अधिचित्त शिक्षा ३०, ३१
अधिप्रज्ञा शिक्षा ३०, ३१
अधिमोक्ष (चैतसिक १०) २४
अधिशील शिक्षा ३०, ३१
अधिष्ठान (पारमिता) ३०
अध्यास १२३
अध्येषणा ५७
अनपत्राप्य (चैतसिक १६) २४
अन्तग्राह दृष्टि ३
अनागामी का लक्षण ।-
अनात्मवाद ११२
अनावरणिक (बोधिचित्तोत्पाद) ४७
अनास्रव धातु ७१
अनुत्पाद ज्ञान २, ३
अनुपलम्भ ७१
अनुलोम ज्ञान ≶
अनुव्यञ्जन १२२
अनुशय ३
अनुश्रव ११६,१२५
अन्वय ज्ञान ३
अपर्यन्तशील ३३
अपत्राप्य (चैतसिक ३१) २४
अप्रमाण ४३
अप्रमाण द्वय (चैतसिक ५० ५१) २४
अभिमुखी (विहार भूमि) ४९
अभिवादन ८७
अमिताभ (बोधिसत्त्व) ७९, ८०, ८२, ८३
अमितायु (= अमिताभ) ८०
अमोघसिद्धि (बुद्ध) ८२
अल्पधातु ≶
अल्पराग ≶
अर्चिष्मती (विहारभूमि) ४८
अर्थ (छः इन्द्रियों के) २३
अर्थक्रिया ४७
अर्हत्
—का लक्षण ।-
—पद १४
अलोभ (चैतसिक ३२) २४
अवदान १), १६
अवयवी १२१
अवलोकितेश्वर (बोधिसत्त्व) ८२, ८३
अविद्या ≶, २, १२३, द्वादशांग में एक २६, २७
अविद्यास्रव ११०
अव्याकृत १२८, १२९
अशाश्वतानुच्छेदवाद १००
अष्टाङ्गिक मार्ग ७
आकाशगर्भ (बोधिसत्त्व) ८२
आत्मभाव ५१, ५२
आदर्शज्ञान ७२
आदिबुद्ध ८३
आधिमोक्षिक (बोधिचित्तोत्पाद) ४७
आनापान ४
आयतन ६
आर्य का लक्षण ।

आर्यसत्य ६, १४
आलय (विज्ञान) ११९
आश्रय ९१
आश्रय परावृत्ति ७१
आह्रीक्य (चैतसिक १५) २१
इतिवुत्तक ।।।≠
इन्द्रिय (छः) ६, (पंच) १२
इन्द्रियाँ (छः) २३
ईर्यापथ ५
ईर्ष्या (चैतसिक २२) २४
उदान ॥≠
उपचार १२३
उपादान (द्वादशाङ्ग में एक) २६, २७
उपादाय प्रज्ञप्ति ९९
उपादाय रूप २३
उपाधि निश्रित ९१
उपाय ३१
उपेक्षा ४३—पारमिता ३० — बोध्यङ्ग ६
ऋद्धि १२
ऋद्धिपाद १२
ऋद्धिप्रातिहार्य ६३
एकाग्रता (चैतसिक ५) २३
एकायेन पथ ४८
ओघ ३
औद्धत्य ≶, (चैतसिक १७) २४
औद्धत्य- कौकृत्य ५
औपचारिक १२३
करुणा ४३, (चैतसिक ५०) २४
कर्म (स्वभावतः) १०१
कल्याण पृथग्जन का लक्षण ।–
कल्याण मित्र ९०
कामच्छन्द ५
कामधातु =
कामराग ≶, २
कामास्रव ११०
कायऋजुकता (चैतसिक ४५) २४
काय कर्मण्यता (चैतसिक ४१) २४
काय प्रश्रब्धि (चैतसिक ३५) २४
काय प्रागुण्यता (चैतसिक ४३) २४
कायमृदुता (चैतसिक ३९) २४
काय लघुता (चैतसिक ३७) २४
कालनियम १२०
कुशल कर्मपथ (दश) १२, ३३
कृतहानि १११
कृत्यक्रिया नियम १२०
कृत्यानुष्ठान ज्ञान ७२
कौकृत्य (चैतसिक २४) २४
क्षमा (पारमिता) ३०
क्षय ज्ञान २, ३
क्षान्ति (पारमिता) ३०, ३५
क्षितिगर्भ (बोधिसत्व) ८२
क्षेत्र ७८
गाथा ॥≠
गेय (गेय्य) ।।।=
चार्वाक मत १०९
चित् ११९
चित्त ऋजुकता (चैतसिक ४६) २४
चित्त कर्मण्यता (चैतसिक ४२) २४
चित्त निश्रित ९१
चित्त प्रश्रब्धि (चैतसिक ३६) २४
चित्त प्रागुण्यता (चैतसिक ४३) २४
चित्त मृदुता (चैतसिक ४०) २४
चित्त लघुता (चैतसिक ३८) २४
चेतना ४७,—के तीन गुण ४७,—(चैतसिक ४) २३
चैतसिक २०, (बावन) २३ २४
छन्द १२,—(चैतसिक १३) २४
जन्म १०, ११—की दुःखरूपता ११

जरामरण (द्वादशाङ्ग में एक) २७
जातक ॥|=, १६
जाति (द्वादशाङ्ग में एक) २७
जीवितेन्द्रिय (चैतसिक ६) २३
ज्ञान ९१
तत्काल अपरिनिर्वाण धर्मा ४७
तत्रमध्यस्थता (चैतसिक ३४) २४
तथागत (निःस्वभाव) १०३
तृष्णा (द्वादशाङ्ग में एक) २६, २७
त्रिकोटि परिशुद्ध ५३
दान (पारमिता) ३०, ३५
दु.ख—का स्वरूप ९,—के कारणादि २१
—(आर्यसत्य) ६७
दुःख निरोध (आर्यसत्य) ७
दु.खनिरोधगामिनी प्रतिपदा (आर्यसत्य) ७
दुर्जया (विहार भूमि) ४९
दूरङ्गमा (विहार भूमि) ४९
दृष्टि ३, —(चैतसिक १९) २४
दृष्टि परामर्श ३
देशनियम १२०
दोष [=द्वेष] (चैतसिक २१) २४
दौष्ठुल्य ७१
द्वेष ≡
धर्मकाय ७०, ७१, ७३, १३१
धर्मज्ञान ३
धर्ममेघा (विहार भूमि) ४९
धम विचय (बोध्यङ्ग) ६
धातु मनसिकार ५
ध्यान ८,—(पारमिता) ३०, ३५
ध्यान लोक ≈
नरक में दण्ड ३३
नाम २०
नामरूप (द्वादशाङ्ग में एक) २६, २७
निदान १)
निमित्त ९१
निरोध १५
निगु णकाय १३१
निर्माणकाय ७५, ७७, १३१
निर्वाण पर अश्वघोष की व्याख्या ।≈
निश्रय ९१
नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ।≡
नैष्क्रम्य (पारमिता) ३०
नैष्काम्य (पारमिता) ३०
पद्मपाणि (बोधिसत्त्व) ८२
पद्मोत्तर (बुद्ध) ८१
परमार्थसत् २९
परमार्थसत्य २१, — सम्बन्धी, अनुरुद्ध का मत
२१, प्रज्ञाकरमति का मत २१, नागार्जुन
का मत२१, परवर्तीविचार २५
परिणामना ९१
परिणामवाद ११७, ११८
परिणामी ११९
पापदेशना ४७, ८७, ९०
पारमिता १८, ३० - के अभ्युदयादि ४२
पुण्यानुमोदना ५७, ८७
पुरुषकार ४८
पूजना ८७
पूजा ८८
पूजाए (नौ) ८७
प्रज्ञा (पारमिता) ३०, ३९. ४०
प्रज्ञेन्द्रिय (चैतसिक ५२) २४
प्रणिधान ३१
प्रतिकूलमनसिकार ५
प्रतिघ २
प्रतीत्यसमुत्पाद १४, १११—की साधनाओं
का केन्द्र बिन्दु १६
प्रत्यय १४
प्रत्यवेक्षाज्ञान ७२
प्रत्येक बुद्ध १५
प्रत्येक बुद्धयान का स्वरूप ॥-

प्रत्येक बुद्धयान की साधना १४
प्रभाकरी (विहार भूमि) ४८
प्रवृत्ति (विज्ञान) ११९
प्रश्रब्धि (बोध्यग) ६
प्रीति (चैतसिक १२) २४, (बोध्यंग) ६
फल परिग्रह ४७
बधन ३
बल (पच) १२
बाह्यार्थानुमेयवादी ९८
बाह्यार्थ प्रत्यक्षवादी ९८
बुद्ध—का अभिप्राय (सार) २८
—का आविर्भाव और तिरोभाव ६६ आ०
—का लक्षण ५०
—के पाँच रूप ८२
—विभिन्न बुद्धों की समता ६८
—चित्त ६९
बुद्धत्व ५०
बुद्धत्व प्राप्ति १८
बुद्धयान १८
बुद्धाध्येषणा ८७
बोधि १-३,-का स्वरूप २, के सहायक ६
बोधिचित्तोत्पाद ८७
बोधिपरिणामना ८७
बोधिपाक्षिक धर्म १, ४, —के भेद ४, १२,
—का वर्गीकरण १३
बोधिसत्त्व, —का स्वरूप ।।-, —के गोत्र ४४,
—के गोत्र से पतन के कारण ४५, —की
विहारभूमियाँ ४४ आ०— के कर्तव्य
५१,-की चर्या ५०
बोधिसत्त्वयान १८
बोध्यङ्ग ६
ब्रह्म १२२
ब्रह्मचर्य ११
ब्रह्मवाद ११७
ब्रह्मविहार ४३
भक्ति ८७
भद्रचर्या ५७
भव (द्वादशाङ्ग में एक) २७
भवराग २
भवास्रव ११०
भूत (चार) २३
भूतरूप २३
भौतिकवादी १०९, ११०
मञ्जुघोष (बोधिसत्त्व) ८२
मञ्जुश्री (बोधिसत्त्व) ८२
मध्यमा प्रतिपत् ९९
मध्यमा प्रतिपदा ६०
मन ११९
मनसिकार (चैतसिक ७) २३
महायान १८, — का नाम महायान क्यों ? ।।-
मात्सर्य (चैतसिक २३) २४
मान ॐ, २, (चैतसिक २०) २४
माया १२३
मिथ्याकर्मविरति (चैतसिक ४८) २४
मिथ्याजीवविरति (चैतसिक ४९) २४
मिथ्या दृष्टि ३
मिथ्यावाग्विरति (चैतसिक ४७) २४
मिद्ध (चैतसिक २६) २४
मीमांसा १२
मुक्ति पर वात्स्यायनकी आलोचना १०५
मुदिता ४३, (चैतसिक ५१) २४, (विहार-
भूमि) ४८
मैत्री ४३ (पारमिता) ३०
मैत्रेय बोधिसत्त्व ७८
मैत्रेय (भावी बुद्ध) २०
मोह ॐ (चैतसिक १४) २४
यमक प्रातिहार्य ६३, ६४
याचना ८७
यान — की साधना का सार २०
भिन्न भिन्न ० १४

योग ३
रत्नपाणि (बोधिसत्त्व) ८२
रत्नसभव (बुद्ध) ८२
राग २
रूप २३
रूपकाय ७७
रूपधातु ≶
रूपराग ≶
रूप (स्कन्ध) ६, २०
लोक प्रज्ञप्ति २१
लोभ ≶
लोभ (चैतसिक १८) २४
वज्रपाणि (बोधिसत्त्व) ८२
वन्दना ५७ ८७ ८८
वस्तु ९१
विचार (चैतसिक ९) २४
विचिकित्सा ३, ६, (चैतसिक २७) २४
विज्ञान २०, २३, १२२ (स्कंध) ६, २०, २४ (योनिगत पच स्कध द्वादशांग में एक) २६, २७
विज्ञानवाद ११५, ११९
विज्ञान स्कन्ध ११७
वितर्क (चैतसिक ८) २४
विमला (विहारभूमि) ४८
विमुक्तिकाय ७१
विरत्तित्रय (चैतसिक) २४
विवर्तवाद ११८
विश्वपाणि (बोधिसत्त्व) ८२
विहारभूमि ४४, ४८
वीर्य १२, (चैतसिक ११) २४, (पारमिता) ३०, ३५
वेदना (चैतसिक २) २३, द्वादशाङ्ग में एक २६, २७ (स्कध) ६, २०
वेदूल ॥≠
ïपुल्य १)
वैपाकिक (बोधिचित्तोत्पाद) ४७
वैभाषिक ९८
वैरोचन (बुद्ध) ८२
व्याकरण ॥≠
व्यापाद ≶, ५
शरणगमन ८७, ९०
शिक्षाए (तीन) ८७
शील (पांच) ३२, (पारामता) ३०, ३५
शीलव्रतपरामर्श ३
शुद्धाध्याशयिक (बोधिचित्तोत्पाद) ४७
शून्य ४१
शून्यता ९९, (=परिवर्तनवाद) १०२
शून्यवाद ११५—पर आक्षेप ११३
श्रद्धा १२, (चैतसिक २८) २४
श्रावकयान १४, १८—का स्वरूप ॥—, —की साधना १४
षड़ायतन (द्वादशांग में एक) २६, २७
संयोजन ३, ६
सवृतिसत् २९
संवृतिसत्य २१, १०१
संस्कार (द्वादशांग में एक) २६, २७, (स्कन्ध) ६, २०
सकृदागामी का लक्षण ।०
सगुणकाय १३१
सज्ञा (चैतसिक ३) २३, (स्कन्ध) ६, २०
सत् ११९
सत्काय दृष्टि ३
सत्ता २९
सत्य (पारमिता) ३०
सन्ताननियम १२०
सपर्यन्तशील ३३
समताज्ञान ७२
समन्तभद्र (बोधिसत्त्व) ८२
समाधि, — के दस बाधक ३६, (बोध्यंग) ६
समुदय (आर्यसत्य) ६, ७

सम्प्रजन्य ५
सभोगकाय ७४, ७७, १३१
सभोगबुद्धता ७२
सम्यक्कर्मान्त ७
सम्यक्प्रधान ७, १२
सम्यक्प्रहाण ७
सम्यक्सकल्प ७
सम्यक्सबुद्धयान की साधना १४
सम्यक् समाधि ७,—के चार अग ८
सम्यग्दृष्टि ७
सम्यग्वाचा ७
सम्यग्व्यायाम ७
सर्वास्तिवादी ९८
सहा (लोकधातु) ७८
सांवृतज्ञान २
साधुमती (विहारभूमि) ४९
सापेक्षसत् १०६
सापेक्षसिद्धि १०१
सामान्य ११६
सूत्र (= सुत्त) ॥।-
सौत्रांतिक ९८
स्कंध ६ —पर विस्तृत विचार २३ आ०
स्त्यान (चैतसिक २५) २४
स्त्यानमिद्ध ५
स्पर्श (चैतसिक १) २३, (द्वादशांग में एक) २६, २७
स्मृति (चैतसिक २९) २४, (बोध्यंग) ६
स्मृत्युपस्थान ६
स्रोत आपन्न का लक्षण ।०
स्वाभाविक काय ७३
हीनयान १८ — का नाम हीनयान क्यों ? ॥-
हेतु ९१
ह्री (चैतसिक ३०) २४

सहायक ग्रंथों की सूची

१—महायान सूत्र

सद्धर्मपुण्डरीक—सम्पादक H. Kern and Bunyiu Nanjio, Bibliotheca Buddhica x. St. Petersbourg, १९०८।

ललितविस्तर—राजेन्द्रलाल मित्र का अशुद्धतम सस्करण in Bibl. Ind १८७७। अच्छा सस्करण by S. Lefmann, Halle a.s. १९०२ और १९०८।

करण्डव्यूह (गद्यग्रन्थ)—सपादक सत्यव्रत सामश्रमी, कलकत्ता १८७३।

करुणापुण्डरीक—बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसाइटी कलकत्ता १८९८।

अष्टसाहस्रिका—स० राजेन्द्रलालमित्र, Bibl. Ind. १८८८।

शतसाहस्रिका—स० प्रतापचन्द्रघोष, Bibl. Ind. १९०२ — १९१४।

पचविंशतिसाहस्रिका—स० नलिनाक्ष दत्त लदन, १९३४।

वज्रच्छेदिका—स० मैक्समूलर in Buddhist Text from Japan, Anecdota Oxoniensia, Aryan Series 1. 1, 1818।

सुखावती व्यूह —स० मैक्समूलर, आक्सफोर्ड, १८८३।

प्रज्ञापारमिताहृदय—सं० Max Muler और B. Nanjio in Anecdota Oxoniensia, Aryan Series Vol. I part III, 1884।

दशभूमिकसूत्र—स० Johannes Rahder, Diss. Utrecht 1929।

काश्यपपरिवर्त (खण्डित) —शघाई १९२९

राष्ट्रपाल परिपृच्छा—St. Petersbourg १९०१।

लकावतार —स० Bunyiu Nanjio Kyoto १९२३ (Bibliotheca Otanienis, Vol I)

सुवर्णप्रभास (अशमात्र)—स० राय बहादुर शरच्चन्द्रदास और प० शरच्चन्द्र शास्त्री, बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसाइटी, कलकत्ता १८९८।

मूलसस्कृतमें बस यही सूत्रग्रंथों का साहित्य प्राप्त है। पुरा का पूरा महायानसूत्र-साहित्य और चीनी अनुवादों में पाया जाता है।

२—महायान के आचार्य और उनके उपलब्ध मूल ग्रन्थ

नागार्जुन (१५० ई०) माध्यमिक कारिका (चन्द्र कीर्ति की प्रसन्नपदा के साथ सम्पादित) Louis de la Vallee Poussin, St. Petersbourg १९०३।

विग्रहव्यावर्तिनी—सम्पादक : राहुल सांकृत्यायन बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी की पत्रिका में Vol. XXIII Part III 1937

आर्यदेव (नागार्जुनशिष्य) चतु.शतक (अन्तिम ९ परिच्छेद) P. L. Vaidya, Paris, 1923, इसी के आधारपर विधुशेखर भट्टाचाय का परिमार्ज्जित सस्करण, विश्वभारती सीरीज़ में छपा है।

मैत्रेयनाथ (चौथीशती, असग के गुरु) अभिसमयालङ्कार By TH Stcherbatsky, Leningred, 1929.

असग (चौथी शती)—(१) महायान सूत्रालकार स० सिल्वा लेवी, पेरिस १९०७। (२) योगाचारभूमि म० म० विधुशेखर भट्टाचार्य इसका सम्पादन कर रहे हैं। पोथी महापण्डित राहुल सांकृत्यान को तिब्बत में मिली थी।

वसुबन्धु (असग के कनिष्ठ भाई)—(१) त्रिंशिका (विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि) (२) विंशिका (विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि) : स० सिल्वा लेवी, पेरिस १९२५।

(३) अभिधर्मकोश—स० राहुल सांकृत्यान, काशी विद्यापीठ स० १९८८। यह सस्करण पूसें के फ्रन्च अनुवाद मे उद्धृत कारिकाओं के अनुसार है।

दिग्नाग (वसुबन्धुशिष्य)—न्यायप्रवेश : ए. बी. ध्रुव द्वारा सपादित, गायकवाड़ सीरीज़, बड़ोदा।

धर्मकीर्ति (छठी शती)—(१) प्रमाणवार्तिक (मनोरथनन्दी की टीका के साथ सम्पादित) विहार उड़ीसा रिसर्चसोसाइटी की पत्रिका जिल्द २४-२६ में।

(२) वादन्याय—विहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी पत्रिका जिल्द २१, (३) प्रमाणवार्तिक स्ववृत्ति—किताबमहल, इलाहाबाद १९४३। यह तीनों म० पं० राहुल सांकृत्यायन को तिब्बत म मिलीं और उन्होंने ही सम्पादित किया।

(४) न्यायबिन्दु—(श्रीचद्रशेखर शास्त्री द्वारा सपादित) चौखम्बा सस्कृत सीरीज़, काशी।

शान्तिदेव (७वीं शती)—(१) शिक्षासमुच्चय, सं० सी० बेण्डाल, सेंटपीटसबर्ग १९०२।

(२) बोधिचर्यावतार (प्रज्ञाकरमति की पंचिका के साथ) स० La Vallee Poussin Bibl. Ind. १९०१—१९१४।

( ) कारिकामात्र का सम्पादन I. P Minayeff द्वारा Zapiski IV १८८९। इसीका पुनर्मुद्रण Jबुद्धिस्ट टक्स्ट सोसायटी की पत्रिका में १८९१ में हुआ।

शान्तरक्षित (८वीं शती)—तत्त्वसग्रह (कमलशील की टीका के साथ) स० एम्बर कृष्णमाचार्य, बड़ोदा १९२६।

हरिभद्र (or सिंहभद्र)—अभिसमयालङ्कारालोक by Giuseppe Tucci. Gaekwad's Oriental Series, No. LXII.

३—महायान के अध्ययन में सहायक ग्रन्थ

महायान के विषय में बहुत थोड़ा ही लिखा गया है। इसके सिद्धान्तों को बतानेवाली सामग्री जो भी है उसपर प्रामाणिकता का दावा करना कठिन है। सुजुकी ने इस बात की बहुत शिकायत की है। महायान के विषय में जो ग्रन्थ मुझे देखने को मिले वे ये हैं—

Outlines of Mahayana Buddhism by Daisetz Teitaro Suzuki

सुजुकी महोदय स्वयं भी बौद्ध हैं। उनकी यह कृति बहुत विश्वसनीय है। शिकागो विश्वविद्यालय के लिये प्रकाशित, लन्दन १९०७।

An Introduction to Mahayana Buddhism by William Montgomery Mc Govern, Ph. D, लन्दन १९२२।

Aspects of Mahayana Buddhism and Its Relation to Hinayana, by डा० नलिनाक्ष दत्त, लन्दन १९३०।

Bodhisattva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature, by लाला हरदयाल, लन्दन १९३२।

पश्चिमी पण्डितों में महायान पर प्रतिनिधिभूत Waddell की Buddhism in Tibet और Samuel Beal की Buddhism in China है जिनकी सुजुकी ने अपनी पोथी में कड़ी आलोचना की है।

Mahayana Buddhism, By Beatrice Lane Suzuki.

अन्य ग्रन्थों का विवरण सुजुकी के ग्रन्थ में मिल जायगा।

४—हिन्दी में बौद्धसाहित्य

राहुल सांकृत्यायन — विनयपिटक (अनुवाद)
दीघनिकाय (अनुवाद)
मज्झिमनिकाय (अनुवाद)
बुद्धचर्या (संकलन)
बौद्धदर्शन

आनन्द कौसल्यायन—जातक, दो खण्ड (अनुवाद)
महावंस (अनुवाद)

जगदीश काश्यप— मिलिन्दप्रश्न (अनुवाद)

शुद्धिपत्र

पृ०।पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१।८	भान्ति	भाति
१।१०	०वाके	०वालों
१।१८	पम्रा	पञ्मा
४।४	०बोचे	०बगोचे
४।२४	काम	काय
४।२६	बुद्ध०	बुद्धि०
५।१६	-बोटरु	-बटोरु
६।१६	श्रोत	श्रोत्र
९।२३	दुःखबोध	दुरवबोध
११२	१२	१३
१४।१०	शास्त्र	शास्ता
१४।२६-२७	भूलने	भूनने
१६।२७	किलिस्येय्य	किलिस्सेय्य
१८।१३	प्रत्येकाबुद्ध	प्रत्येकबुद्ध
२१।२८	०विशक	विंशक
२२।२७	विशुद्ध्ययने	विशुद्ध्यते
२४।नं०४०	चित्तमृहता	चित्तमृदुता
२४ न१६	अनपात्रप्य	अनपत्राप्य
२४।नं३१	अपात्रप्य	अपत्राप्य
२६।१	बुद्धवादियों	बुद्धिवादियों
२६ २३	'पूर्वक्लेशदसा विद्या	'पूर्वक्लेशदशाविद्या'
२७।१४	प्रब्रहावस्था	प्रज्ञावस्था
२९।१	स्वरूप	स्वरूप
३०।७	आश्चर्यवत्	आश्चर्यवत्
३२।२६	(या अति लोभ (से विरति ।	(या अति लोभ से विरति ।)
३२।२७	(या वैमनस्य) में विरति ।	(या वैमनस्य से विरति ।)
३२।२८	(या मिथ्या दृष्टि) से विरति ।	(या मिथ्या दृष्टि से विरति ।)

पृ० पं०	अशुद्ध	शुद्ध
३३।६	'पटिपम्भिदा'	'पटिसम्भिदा'
३४।६	अमिध्या	अभिध्या
३५।२३	मिच्यो	मिच्यो
३६।२	लम्पग्ग	लाङ्गग
३६।३	स्वङ्क	स्वट्टम
३६।८	गें हे	गेंहे
३७।२१	जीतने	जोतने
४१ २५	सन्देह बुद्धि	कल्पना बुद्धि
४२।६	दुराचार	दुराचार
४३।२५	विशुद्ध	विशुद्धि
४४।११	जाने	जाने के
४९।२५	०विमोक्ष	०निर्मोक्ष
५१।२१	आत्मभव	आत्मभाव
५२।११-१२	उस जिनाङ्कुर	जो उस जिनाङ्कुर
५९।१	३	२
६०।८	मिगदाव	मिगदाव
६५।३	देखता	देखना
६७।२	परिनिवृत	परिनिर्वृत
६८।४	गया है	हो गया है
६८।२२	चिह्न	चिह्न
६८।२९	प्रथकता	पृथक्ता
६९।१३	बहिर्मुखो	बहिर्मुखो
७०।१	यान	काय
७०।८	घोषण	घोषेण
७०।९	प्रस्तुता	प्रसुता
७०।२६	असग	वसुबन्धु
७२।३,२३	कृत्यनुष्ठान	कृत्यानुष्ठान
७६।५	मायामयता	मायामयता
७९।६,७	अमिताम	अमिताभ

पृ०।पं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ०।पं०	अशुद्ध	शुद्ध
८०।	टिप्पणीगत श्लोकमें—		९८।१६	थी	थे
	मिथ्यादृग्बु०	मिथ्यादृग्बु०	१००।२२	माध्यमिक	माध्यमिक कारिका-
	०त्रिहेक्षणा.	०विहाक्षणाः		कारिका	वृत्ति
८४।२१	तदमिनापि	तदिमिनापि	१०९।१	दुर्गहीतो	दुर्गृहीतो
८४।२८	होते हैं	होते हैं ; यह ठीक	१०९।२५	भोस्त्विष०	भोस्तुष०
		नहीं जान पड़ता।	११२।१४	धनमत्थि	धनम्मत्थि
८५।३	काई	वे	११३।१९	०मङ्गनाना	०मङ्गनाना—
८६।२	०देश०	०देशा०	११५।९	ययशून्य	ययशून्य
८६।३	०द्रव्या०	०दृव्या०	११९।२६	विशिका	द्विशिका
८६।५	जोतो०	जातो०	१२२।२	जिस	किस
	मर्मेति	ममेति	१२३।१३	त्रिशिका	त्रिशिका
८६।६	०लोल्य	०लोक्य	१२४।१०	महामात्य	सारथि
८६।२६	छाया	आखिर	१२९।६	जानती	जानते
	धरती	धातो पर		कहे	कह
९०।३	दुतिय	दुतिय	१३२।१	कमसे	कम से कम
९६।२६	नैय्यायिक	नेयायिक	१३३।८	निक्खू	भिक्खू

नोट—पृष्ठ ६१ से ६९ के बीच मुख्य शीर्षक में "बौद्धधर्म में तीन यान" और पृ० ७१ से ७५ के बीच मुख्य शीर्षक में "बुद्ध के तीन काय" के स्थान पर "महायान के धार्मिक विश्वास" पढ़ना चाहिए।